दशश्लोकी
डा. (श्रीमती) कमलेश पारीक
न्दावन शोध संस्थान, रमणरेती, वृन्दावन

दशश्लोकी

आचार्य नन्ददासकृत
तत्त्वसारप्रकाशिनी टीका सानुवाद

सम्पादिका तथा अनुवादिका
डा० (श्रीमती) कमलेश पारीक

वृन्दावन शोध संस्थान
रमणरेती, वृन्दावन

हैं जो निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुवर्ती होंगे। तत्त्वसारप्रकाशिकाकार ने अपने पूर्वाचार्यों के वेदान्तरत्नमंजूषा आदि टीकाओं का नामनिर्देशपूर्वक अनुसरण किया है इनकी प्रतिपादन करने की शैली बड़ी सुन्दर है– आत्मा-अनात्मा और परमात्मा इन तीनों का क्रमशः ज्ञेय, हेय और प्राप्य बतलाकर वर्णन किया है, और तीनों में परमात्मा को अंशी और जीव को अंश मानकर दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध बतलाया है। दूसरे विवेचक कारणात्मना जात्यामाना अभेद कार्यात्मना व्यक्त्यात्मना भेद मानकर भेदाभेद की सिद्ध करते हैं। उनके अभिमत को चिन्त्य कहकर अमान्य किया है। निर्गुण ब्रह्म के ज्ञान से ही मुक्ति मानने वालों की आलोचना करके सगुण सविशेष ब्रह्म के ज्ञानभक्ति से ही मुक्ति होने का प्रतिपादन किया है। यद्यपि इस टीका में जीवन्मुक्ति चर्चा है तथापि अविद्यानिवृत्ति ही मोक्ष है, मोक्ष में और कुछ विशेष मिलने की आशा नहीं, इस मान्यता का नन्ददास जी ने खण्डन किया है। शास्त्र को सत्य मानकर भोक्ता, भोग्य, प्रेरयिता इस त्रिरूपता की यथार्थता का प्रतिपादन करते हुए त्रिवृत्तकरण को पंचीकरण का भी उपलक्षण माना है।

दशश्लोकी के आठवें श्लोक में श्रीकृष्ण के चारविशेषण दिये गये हैं— उनमें ब्रह्मशिवादिवन्दितात् से अखिलब्रह्माण्ड नायक और यदृच्छेयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहात् पद से यह सिद्ध किया है कि भक्त जैसे चाहे वैसा ही रूप धारण करके प्रभु प्रकट हो जाते हैं, इत्यादि बहुत सी बातें तत्वसारप्रकाशिनी टीका में मौलिक रूप की हैं। सम्भवतः यह टीका विक्रम की १८वीं और १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में लिखी गई है।

अधिकारी ब्रजवल्लभ शरण
वेदान्ताचार्य पंचतीर्थ
श्रीजी का मन्दिर, वृन्दावन

दो शब्द

प्रस्तुत ग्रन्थ का श्रेय वृन्दावन शोध संस्थान के संस्थापक एवं सभापति डा० आर० डी० गुप्त को है जिन्होंने मुझे इस ग्रन्थ के निर्माण की प्रेरणा दी। वृन्दावनस्थ श्रीजी के मन्दिर के अधिकारी पं० व्रजबल्लभशरण वेदान्ताचार्य पञ्चतीर्थ ने इस पुस्तक के मार्गनिर्देशन में मेरी सहायता की जिसके लिए मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हूँ।

वृन्दावन शोध संस्थान के पुस्तकालयाध्यक्ष श्रीगोपालचन्द्र घोष ने समय समय पर ग्रन्थावलोकन की सुविधायें प्रदान कीं तथा श्रीवृन्दावन बिहारी गोस्वामी ने मुझे यथासम्भव सहयोग दिया, मैं इनकी आभारी हूँ। श्रीरङ्गलक्ष्मी आदर्श संस्कृत महाविद्यालय के व्याकरण प्रवक्ता डा० गिर्राज प्रसाद शास्त्री ने सन्देहपूर्ण स्थलों की शङ्काओं के समाधान में मेरी सहायता की, इसके लिए मैं उनका आभार व्यक्त करती हूँ। साथ ही वृन्दावन शोध संस्थान के समस्त कर्मचारियों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में सहयोग दिया।

डा० (श्रीमती) कमलेश पारीक

विषय-सूची

संकेत-विवरण

—※—

आ० प० व्य० कृ०	—आचार्य परशुरामदेव व्यक्तित्व एवं कृतित्व
आ० प० प०	—आचार्य परम्परा परिचय
आ० के० का० भ० व्य० कृ०	—आचार्य केशवकाश्मीरी भट्ट व्यक्तित्व एवं कृतित्व
गी०	—श्रीमद्भगवद्गीता
नि० स० उ० कृ० भ० हि० क०	—निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी कवि
नि० सु० प०	—निम्बार्क सुधापत्रिका
भा० पु०	—श्रीमद्भागवत-महापुराण
प०	—पत्राङ्क
व०	—वर्सो
रे०	—रेक्टो
सां० का० सं०	—सांख्यकारिका संख्या

भूमिका

दशश्लोकी के रचनाकार

वैष्णव धर्मके मूल प्रवर्त्तक परम प्राचीन चार आचार्य माने जाते हैं। उन्हींके नामसे श्री(लक्ष्मी) हंसनारायण(सनक),रुद्र और ब्रह्म चार सम्प्रदाय प्रचलित हुए। कालान्तर में वे ही श्रीरामानुज, श्रीनिम्बार्क, श्रीविष्णुस्वामी तथा श्रीमध्व उन सम्प्रदायों के प्रचारक के रूप में आविर्भूत हुए। निम्बार्क सम्प्रदाय वैष्णव धर्म के चार सम्प्रदायों में से एक है।

निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्रीहंस भगवान् माने जाते हैं तथा वैष्णवों के विश्वासानुसार आप नारायण के ही अवतार माने जाते रहे हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण के एकादश स्कन्धमें इस कथाका संकेत मिलता है। एक बार सनकादिक ऋषियों ने ब्रह्माजी से कुछ प्रश्न पूछे। ब्रह्माजी जब उनका उत्तर देने में असमर्थ हुए तब उनकी सहायता के लिए विष्णु भगवान् हंस का रूप धारण कर वहाँ आये, और उन्होंने सनकादिकों के सभी प्रश्नों का समाधान किया तथा वे ऋषिगण उस समाधान से सन्तुष्ट हो गये[1]। यही उपदेश नारदजी ने निम्बार्काचार्य को दिया था।

प्रस्तुत दशश्लोकी ग्रन्थके मूल-प्रणेता सम्प्रदाय के आद्याचार्य जगद्गुरु निम्बार्काचार्य माने जाते हैं। निम्बार्काचार्य का परिचय सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थों—श्रीअनन्तरामकृत आचार्य परम्परा स्तोत्र, पं० किशोरीदासकृत आचार्य चरित, नारायणदेवकृत आचार्यचरित्र में मिलता है। अधिकारी पं० व्रजवल्लभ शरण ने विशेष छानबीन कर आचार्य परम्परा को प्रकाशित करने का स्तुत्य प्रयास किया है।

१, श्रीमद्भागवत महापुराण—स्कन्ध ११, अ० १३, श्लोक १७-४२

निम्बार्काचार्य (जीवनवृत्त)

श्रीनिम्बार्काचार्यका आविर्भाव पैंठन के सन्निकट अरुणाश्रम में हुआ[१] ब्राह्मण आरूण और माता जयन्ति के पुत्र बालक निम्बार्क का नाम नियमानन्द था[२]। ये अरुण पुत्र होने से 'आरुणि' तथा जयन्ति के उदर से जन्म लेने के कारण 'जायन्तेय' भी कहलाये।

श्रीकृष्ण के सुदर्शनावतार होने से आपको नारदजी ने 'सुदर्शन' नाम से भी सम्बोधित किया है[३]। अरुणाश्रम में ही आपने वेद-शास्त्रों का गहन अध्ययन किया। तदुपरान्त गोदावरी तटवर्ती दक्षिणकाशी के प्रख्यात नगर 'पैंठन' में अल्पकालीन निवास किया[४]। श्रीकृष्ण की लीला भूमिके प्रति विशिष्ट श्रद्धा के कारण आप अपने माता-पिता के सहित भ्रमण-यात्रा करते हुए ब्रजभूमि में आये और निम्बार्क आश्रम में निवास करने लगे। यहाँ पर ही प्रकट होकर नारदजी ने आपको मन्त्रोपदेश दिया था[५]।

निम्बार्काचार्य ही सर्वप्रथम ऐसे वैष्णवाचार्य थे जिन्होंने व्रजमण्डल में वृन्दावनबिहारी श्रीराधा-कृष्ण की सहचरी उपासना का सूत्रपात किया था[६]। भक्तमाल में एक[७] अलौकिक कथा-प्रसङ्ग मिलता है—एक दिन कोई

१. रूपकला टीका (भक्तमाल) में मूँगीपट्टन (मूंगेर) जन्मस्थान बताया है। डा० भण्डारकर ने निम्बगाँव वृन्दावन से साम्य रखने वाले निम्बापुर (जिला-वल्लारी-दक्षिण) को इनका जन्म स्थान बतलाया है।

२. संन्यासी सम्प्रदायों में ही आनन्दांत नाम परम्परा रही हो ऐसा नहीं है अपितु भक्ति सम्प्रदायों में भी आनन्दान्त नाम परम्परा उपलब्ध होती है—राघवानन्द, रामानन्द आदि।

३. नैमिषखण्डीय वाक्य हंसवल्ली।

४. इण्डियन साधूज —प्रो० लक्ष्मण चापेकर, पृ० १७४

५. स्वधर्माध्वबोध —रामचन्द्रकृत, श्लोक १६

६. आचार्य परशुरामदेव व्यक्तित्व एवं कृतित्व —डा० रामप्रसाद शर्मा, पृ० ४१

७. नाभादासकृत भक्तमाल-छप्पय संख्या—२८
प्रियादासकृत भक्तिरसबोधिनी टीका में इसका विस्तार से वर्णन मिलता है।

जैन संन्यासी नियमानन्द के समीप उपस्थित हुए और धर्म के तत्वों पर विचार विमर्श करने लगे। इस प्रकार विचार-विमर्श करते-करते शाम हो गई और निम्बार्क ने अपने आसन से उठकर आश्रम से कुछ खाद्य सामग्री लाकर जैन संन्यासी को समर्पित की तथा उसे स्वीकार करने को कहा। लेकिन अतिथि ने सूर्यास्त हो जाने के कारण स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। तब नियमानन्द ने सूर्य भगवान् से कुछ देर ठहरने के लिए प्रार्थना की और जब तक अतिथि ने अपना भोजन न कर लिया तब तक वे निम्ब-वृक्ष पर दिखाई देते रहे। इसी घटना के आधार पर नियमानन्द का नाम "निम्बार्क" (निम्ब+अर्क), निम्बादित्य (निम्ब+आदित्य) पड़ गया तथा सम्प्रदाय भी उन्हीं के द्वारा स्थापित होने के कारण निम्बार्क सम्प्रदाय कहा जाने लगा।

निम्बग्राम गोबर्द्धनसे पश्चिमकी ओर लगभग तीन कि.मी. की दूरी पर है जिसका कि निम्बार्क सम्प्रदाय से विशेष महत्व है। श्रीनिम्बार्काचार्य जी से सम्बन्धित ऐतिहासिक निम्बवृक्षकी स्थिति यहीं पर थी जिसके संस्मरणमें इस ग्रामका नाम 'निम्बग्राम' पड़ गया था[१]। यहाँ एक अति प्राचीन कुण्ड है जिसके निकट एक प्राचीन कूप है तथा समीप में ही एक रासमण्डल चबूतरा है जिसे निम्बार्काचार्य महाप्रभु की वासस्थली माना जाता है। इसी स्थान पर वेदान्त के ब्रह्मसूत्रों का सर्वप्रथम विवेचन हुआ।

निम्बार्काचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्योंने 'व्रज-मण्डल' को ही अपनी साधना का प्रमुख स्थल बनाया, क्योंकि नारद सनकादिक महर्षियों ने भारतवर्ष में वृन्दावन धाम की महनीयता को प्रतिपादित किया था। सनकादिकों को सदाशिवजी ने यह बतलाया था कि गोवर्द्धन से यमुना तक की दो योजन भूमि में मंत्र स्मरणादि साधनायें शीघ्र सिद्ध होती हैं अस्तु सब कुछ तजकर सभी तीर्थों से श्रेष्ठ वृन्दावन धाम में सदा निवास करना चाहिए[२]।

१. आचार्य परम्परा परिचय —पं० किशोरीदास, पृष्ठ ३०

२. सर्वं संत्यज्य गार्हस्थ्यं सर्वतीर्थगणस्तथा।
वृन्दावनं सदा सेव्यं यदीच्छेच्छुभमात्मनः॥
——सनत्कुमार संहिता, पटल—३४, श्लोक ७५

निम्बार्काचार्य का समय

दशश्लोकी के रचनाकार निम्बार्काचार्यके समय के विषय में विभिन्न लेखकों ने अपने-अपने विभिन्न अभिमत व्यक्त किये हैं। उन सबका वर्गीकरण किया जाय तो तीन मत स्थिर होते हैं—

(१) द्वापर का अन्त और कलियुग का आरम्भ।
(२) वि० की ११वीं, १२वीं शताब्दी।
(३) शंकराचार्य से पूर्व पांचवीं, छठी शताब्दी।

पहला अभिमत संस्कृतके वामन, भविष्य आदि पुराण और औदुम्बर-संहिता, रावणसंहिता, भृगुसंहिता आदि धर्मशास्त्रीय एवम् ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर है। दूसरा डा० भण्डारकर के 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' नामक ग्रन्थ के आधार पर और तीसरा अभिमत आधुनिक अन्वेषकों—ग्रियर्सन ग्राउस तथा मोनियर विलियम्स के शोध पर आधारित है।

संस्कृत ग्रन्थों के अन्तर्गत वर्णित उपर्युक्त ग्रंथों एवं श्रीमद्भागवत-महापुराण आदि के अतिरिक्त श्रीनारायणशरणदेवाचार्य द्वारा एक आचार्य-चरित्र ग्रंथ संकलित किया हुआ है, उसके चार विश्रामों में निम्बार्काचार्य का समय निर्धारित किया गया है[1]।

सुदूर दक्षिण प्रदेश के हैदराबाद से पूर्व ६ मील की दूरी पर बसे हुए नगर अदिलाबाद में उपलब्ध वि० की ११वीं, १२वीं शताब्दी के निम्बादित्य प्रासाद का शिलालेख भी इस बात को प्रामाणित एवं पुष्ट करता है कि वि० की ११वीं, १२वीं, शताब्दी में निम्बार्काचार्य की प्रतिमाएँ जहाँ-तहाँ पूजी जाती थीं। अतः निम्बार्काचार्य का समय द्वापर का अन्त और कलियुग का

१. वि० सं० १९१७ की हस्तलिखित प्रति श्रीजी मन्दिर के संग्रहालय में है, पडरौना वाली कुंज, निम्बार्क कोट आदि स्थलों में भी इसकी प्रतियाँ हैं। इसमें हंस भगवान् से लेकर परशुरामदेवाचार्य तक के आचार्यों के चरित्र संक्षिप्त रूप से हैं इसका एक भाग भाषा टीका सहित आज से लगभग ५० वर्ष पूर्व सुदर्शन प्रेस, वृन्दावन से प्रकाशित हुआ था।

आरम्भ ठहरता है। ऐसी सम्प्रदाय के आचार्यों की मान्यता है। इस आधार पर निम्बार्क का आविर्भाव काल ५००० वर्ष पूर्व माना जाता है। सम्प्रदायानुसार वि. २०२७वां वर्ष निम्बार्क का ५०६५वां वर्ष है।

डा० भण्डारकर आदि आधुनिक इतिहासकारों ने निम्बार्काचार्य को ईसा की १२वीं शताब्दी में माना है। आपने मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य की पीढ़ियों की तुलना करके उनका समय निर्धारित किया है तथा निम्बार्क परम्परा की दो सूचियों को लेकर इस समय का अनुमान किया है। उक्त सूचियोंमें से निम्बार्क सम्प्रदायकी पहली परम्परा सूची सन् १८८२-८३ ई. के खोज विवरण पृष्ठ २०८ में अंकित कर दी गई है जिसमें निम्बार्क की ३७ पीढ़ियोंका विवरण है। दूसरी सूची सन् १८८४-८७ ई. के हस्तलेख संग्रह नं० ७०९ में अंकित की गई है जिसमें ४५ आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है। इन दोनों परम्परा सूचियों के मिलान से प्रकट होता है कि दोनों में निम्बार्क से हरिव्यासदेव तक की ३२ पीढ़ियाँ ज्यों की त्यों और समान हैं तथा उनमें हरिव्यास के पश्चात् दो परंपरायें चल पड़ी हैं। श्रीहरिव्यास देव के पश्चात् अन्य दामोदर गोस्वामी नामक शिष्य १७५० ई० में विद्यमान था जिसे निम्बार्क की ३३वीं पीढ़ी में स्थान मिला है। इस समय यदि दामोदर गो० का आयुमान १५ वर्ष भी मान लिया जाय तो सन् १७६५ ई० में निम्बार्क की ३३ पीढ़ियाँ समाप्त होती हैं। इधर मध्वाचार्य का सन् १२७६ ई० में देहावसान हुआ था। उनके बाद उनकी ३३ पीढियाँ ६०० वर्षों में पूर्ण हुई थीं। दोनों की तुलना द्वारा निम्बार्काचार्य के पश्चात् उनकी कथित ३३ पीढ़ियाँ ६०० वर्ष में पूर्ण हुई मान ली जाँय तो निम्बार्काचार्य दामोदर गोस्वामी से ६०० वर्ष पूर्व हुए थे। अतः निम्बार्काचार्य का समय सन् १७६५ ई० से ६०३ वर्ष पूर्व सन् ११६२ ई० में निश्चित हो जाता है[1]।

डा० भण्डाकरके इस मतका अनुकरण इन विद्वानोंने किया है—राजेन्द्र घोष[2], २—अक्षय कुमार दत्त[3], ३—जाह्नवीचरण[4], ४—स्वामी प्रज्ञानन्द

१. वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म —डा० आर० जी० भण्डारकर, पृष्ठ ८७-९३
२. वेदान्तदर्शनेर इतिहास —राजेन्द्र घोष
३. भारतवर्षीय उपासक सम्प्रदाय —अक्षय कुमार दत्त
४. संस्कृत साहित्येर इतिहास —जाह्नवीचरण भौमिक

सरस्वती[1], ५—पुलिन बिहारी भट्टाचार्य[2], ६—सुशीलकुमार डे[3], ७—पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद[4], ८—डा० रमा चौधरी[5]।

डा० भण्डारक के इस मत का खण्डन नवीन लेखकोंने किया है—डा० नारायण दत्त शर्मा, मथुरा का—कृष्णभक्ति काव्य में निम्बार्क सम्प्रदाय के हिन्दी कवि, डा० अमरप्रसाद भट्टाचार्य, कलकत्ता का—श्रीनिम्बार्क व द्वैताद्वैत दर्शन, डा० रामप्रसाद शर्मा, किशनगढ़ का—आचार्य परशुरामदेव व्यक्तित्व एवं कृतित्व। इन लेखकों के अतिरिक्त वृन्दावनस्थ श्रीजी के मंदिर के अधिकारी पं० व्रजवल्लभशरण जी वेदान्ताचार्य ने भी सर्वेश्वर के निम्बार्क अङ्क—१६७२ में डा० भण्डारकर तथा उनके मतानुयायी विभिन्न लेखकों के मतों का आलोचनात्मक खण्डन प्रस्तुत किया है[6]।

निम्बार्क सम्प्रदाय के विभिन्न विद्वान् निम्बार्काचार्यको रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि सभी वैष्णवाचार्यों से प्राचीनतम तथा शंकराचार्य से पूर्ववर्ती एवं महर्षि कृष्णद्वैपायन वेदव्यास के समकालीन मानते हैं। पाश्चात्य लेखकों ग्रियर्सन, मोनियर विलियम्स, ग्राउस हण्टर आदि ने भी निम्बार्काचार्य को अन्य वैष्णवाचार्यों से प्राचीन माना है।

निम्बार्काचार्य शंकराचार्य से पूर्ववर्ती थे। इस कथन की पुष्टि में कतिपय हेतु प्रस्तुत हैं—

१—भविष्य पुराणों के एकादशी-व्रत निर्णय में निम्बार्क-मत का उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें निम्बार्काचार्य को विशेष सम्मान देने हेतु 'भगवान्' शब्द से अभिहित किया गया है।

२—निम्बार्क भाष्य 'वेदान्तपारिजात-सौरभ' अत्यन्त लघु, संक्षिप्त

१. वैष्णवदर्शनेर इतिहास —स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती
२. श्री निम्बार्काचार्य और ताहार धर्ममत —पुलिन बिहारी भट्टाचार्य
३. जयदेव और गीतगोविन्देर आलोचना —सुशीलकुमार डे
४. निम्बार्क भाष्य की भूमिका —पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद
५. निम्बार्क भाष्य का आङ्गल अनुवाद —डा० रमा चौधरी
६. श्री सर्वेश्वर —निम्बार्क अङ्क, सन् १६७२, पृ० ६६–७६

एवं खण्डन-मण्डन से परे होने से वह अद्वैतवाद तथा विभिन्न वैष्णववादों से प्राचीन प्रतीत होता है।

३—शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में निम्बाकाचार्य के द्वैताद्वैत दर्शन की आलोचना की है। इसके विपरीत निम्बार्काचार्य तथा उनके पट्ट शिष्य श्रीनिवासाचार्य के भाष्यों में शंकरमत का खण्डन तो दूर रहा उल्लेख तक नहीं मिलता।

४—आदि वैष्णव धर्म के आचार्य श्रीनिम्बार्क ही थे।

(क) भविष्य पुराणोक्त श्लोक की प्राचीनता सिद्ध करने के साथ ही साथ श्लोक के प्रक्षिप्त होने के मत का खण्डन किया गया है। वि. की १३वीं शताब्दी के धर्मशास्त्री हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्ग चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में इस भविष्य पुराणोक्त श्लोक को उद्धृत किया है जिसके फलस्वरूप श्लोक सम्बन्धी भ्रान्तियों का निराकरण हो जाता है—

> निम्बार्को भगवान् येषां वांछितार्थ प्रदायकः।
> उदय-व्यापिनी ग्राह्या कुले तिथिरुपोषणे॥

यद्यपि वर्तमानकाल के भविष्यपुराणों में प्रायः यह श्लोक नहीं मिलता तथापि सम्प्रदाय के आचार्य इसको भविष्यपुराण का ही श्लोक मानते हैं और अनेक हेतुओं द्वारा इसकी पुष्टि करने का आग्रह करते हैं।

(ख) निम्बार्काचार्यकृत भाष्य, वेदान्तपारिजातसौरभ अत्यन्त सूक्ष्म है। यहाँ अद्वैतवाद एवं अन्य वैष्णवदर्शनों का खण्डन नहीं हुआ है केवल सूक्ष्म कलेवर में द्वैताद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया गया है।

(ग) निम्बार्क विरचित इस सूक्ष्म भाष्य में बौद्ध-दार्शनिक 'वसुबन्धु' के अस्तित्ववादी मत का उल्लेख हुआ है। वसुबन्धु-बौद्ध ५वीं शताब्दी के माने जाते हैं। निम्बार्क के शिष्य श्रीनिवास जी ने अपनी टीका में छठी शताब्दी के बौद्ध-दार्शनिक विप्रभिक्षु (धर्मकीर्ति) का उद्धरण दिया है। इस प्रकार भाष्य में केवल जैन-बौद्ध मत की आलोचना हुई है। इसी आधार पर सम्प्रदायी विद्वान् निम्बार्काचार्य की विद्यमानता वि० की छठी शताब्दी के

अन्त में मानते हैं और उन्हें शंकराचार्य से पूर्ववर्ती घोषित करते हैं। निम्बार्काचार्य से पूर्व जो दर्शन भेदाभेद के नाम से प्रचलित था उसे निम्बार्क ने अपनी विशिष्ट दार्शनिकता से पुष्ट कर द्वैताद्वैत के नाम से प्रवर्तित किया।

(घ) निम्बार्काचार्य ने अपने भाष्य में कहीं भी शंकर-दर्शन के मत का उल्लेख नहीं किया इसके विपरीत शंकराचार्य ने अपने दर्शन में भेदाभेद की आलोचना की है तथा द्वैताद्वैत शब्द का प्रयोग भी किया है। शंकराचार्य ने भेदाभेद की हो अधिक आलोचना इसलिए की थी क्योंकि उनके समकालीन भेदाभेदवादी प्रमुखाचार्य श्रीभट्टभास्कर विद्यमान थे। शंकर ने प्रमुख रूप से भट्टभास्कर के भेदाभेद का प्रतिवाद किया था।

द्वैताद्वैत और भेदाभेद मत एक ही हैं निम्बार्काचार्य तथा उनके परवर्ती आचार्योंने अनेकों स्थानोंपर भेदाभेद का नामोल्लेख किया है। निम्बार्क सम्प्रदाय के प्रकाण्ड पण्डित पं० व्रजवल्लभ शरण, वेदान्ताचार्य ने शंकर भाष्य के अनेक उद्धरण प्रस्तुत कर उससे निम्बार्क भाष्य की प्राचीनता सिद्ध की[1] है। इस प्रकार हम देखते हैं कि निम्बार्काचार्य शंकराचार्य से पूर्व विद्यमान थे।

निम्बार्काचार्य की कृतियां

निम्बार्काचार्यकृत ८ ग्रंथ माने जाते हैं—

१. **दशश्लोकी**—इसे 'वेदान्तकामधेनु' कहा जाता है। इसके दश-श्लोकों में सूक्ष्म तथा संक्षिप्त रूप से द्वैताद्वैत दर्शन, राधाकृष्ण उपास्य स्वरूप निरूपण तथा राधापरक सहचरी भक्ति का एकांतिक विवेचन किया गया है।

२. **वेदान्तपारिजात सौरभ**—यह ब्रह्म सूत्र की स्वल्पकायवृत्ति है।

३. **श्रीकृष्ण स्तवराज**—यह २५ श्लोकों का स्तुतिपरक ग्रंथ है जिस पर परवर्ती आचार्यों ने टीकायें लिखी हैं।

४. **मंत्ररहस्यषोडशी**—इस ग्रंथ में निम्बार्काचार्य ने नारद द्वारा प्रदत्त अष्टदशाक्षर मंत्र की व्याख्या की है। सुन्दर भट्टाचार्यकृत 'मन्त्रार्थ-रहस्य' इसकी प्रख्यात टीका है।

---

१. श्रीसर्वेश्वर —निम्बार्क अङ्क, पृ० ७७, ७८

५. **प्रपन्नकल्पवल्ली**—इस ग्रंथ में नारद द्वारा उपदिष्ट 'मुकन्दशरण मंत्र' की व्याख्या की गई है। इसमें प्रतिपादित पांचरात्र प्रोक्त शरणागति मंत्र पर सुन्दर भट्टाचार्य ने "प्रपन्न सुरतरु मंजरी' नामक प्रौढ़ भाष्य लिखा है।

६. **प्रपत्ति चिन्तामणि**

७. **गीता वाक्यार्थ**

८. **सदाचार प्रकाश**

इन तीनों ग्रंथों में उपनिषदों की व्याख्याएँ की गई हैं किन्तु अद्यावधि ये ग्रंथ अनुपलब्ध हैं। छठे ग्रंथ का नामोल्लेख सुन्दर भट्ट की सेतु टीका में हुआ है। सातवें ग्रंथ का नामोल्लेख केशवकाश्मीरीकृत गीता व्याख्या में प्राप्त होता है। पुरुषोत्तमाचार्य ने दशश्लोकी की टीका में आठवें ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

दशश्लोकी का विषय तथा महत्व

सम्प्रदाय के प्रवर्तक निम्बार्काचार्यकृत वेदान्तकामधेनु' (दशश्लोकी) के प्रथम श्लोकमें जीवके स्वरूप, गुण, संख्या आदि का वर्णन किया गया है। श्लोक द्वितीय में जीवों के भेद-प्रभेद का वर्णन प्राप्त होता है। श्लोक तृतीय में प्रकृति विषयक वर्णन उपलब्ध होता है। चतुर्थ तथा पंचम श्लोकों में परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्ण तथा उनके वामाङ्ग में विराजमान आह्लादिनी शक्ति श्रीवृषभानुनन्दिनी का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दशश्लोकी के पूर्वार्द्ध में भोक्ता जीव और प्रकृति तथा काल आदि अचेतन पदार्थ तथा परब्रह्म परमात्मा का वर्णन किया है और उत्तरार्द्ध में कृपाफल, भक्तिरस और श्रीकृष्ण की प्राप्ति में विरोधी तत्वों पर प्रकाश डाला गया है।

दशश्लोकी का निम्बार्क सम्प्रदाय में अपना एक विशिष्ट स्थान है। वैष्णवों के मुख्य रूप से चार सम्प्रदाय हैं।

	संस्थापक	वेदान्त सिद्धान्त	सम्प्रदाय
१	रामानुजाचार्य	विशिष्टाद्वैत	श्रीसम्प्रदाय
२	विष्णु स्वामी	शुद्धाद्वैत	रुद्र सम्प्रदाय
३	निम्बार्काचार्य	द्वैताद्वैत	सनकादिसम्प्रदाय
४	मध्वाचार्य	द्वैत	ब्रह्मसम्प्रदाय

चैतन्य सम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् "अचिन्त्य भेदाभेद" सिद्धान्त को अपनाया है[1]

"सम्प्रदाय शब्द सम्+प्र+दा+घञ् प्रत्यय के योग से बना है। पूर्वागत धार्मिक प्रणाली का ज्ञान प्रदान करने वाली संस्था को ही 'सम्प्रदाय' कह सकते हैं। निम्बार्क स्वामी द्वारा प्रचलित होने के कारण यह निम्बार्क सम्प्रदाय कहा जाता है। निम्बार्क स्वामी ने इस सम्प्रदाय का प्रचलन स्वतः निर्धारित किसी सिद्धान्त के आधार पर नहीं किया अपितु पहले से चले आ रहे सनत्कुमार नारद के उपदेशों के आधार पर इसको चलाया[2]।

सम्प्रदाय के अन्तर्गत सिद्धान्त और उपासना-प्रणाली ये दो वस्तुएँ मुख्य होती हैं, किन्तु आचार्य दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषद् की व्याख्याओं में करते थे तथा मन्त्रोपदेश और उसकी साधना के अन्तर्गत उपासना का वर्णन होता था।

---

१. भारतीय दर्शन —डा० बलदेव उपाध्याय, पृ. ४७८

२. ब्रह्मसूत्र, अ. १, पा. ३, सू. ८ की व्याख्या में निम्बार्कोक्ति—
'परमाचार्यैः कुमारैरस्मद् गुरवे नारदाय उपदिष्ट'
तथा
'सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तं श्रीनारदायाखिलतत्वसाक्षिणे'
वेदान्तकामधेनु (दशश्लोकी) श्लोक—६

'वेदान्तकामधेनु' (दशश्लोकी) के महत्व का प्रतिपादन करते हुए आचार्य नन्ददास ने अपनी टीका में लिखा है कि—'सुदर्शनावतार निम्बार्काचार्य ने मन्द बुद्धि लोगों के हितार्थ आत्मा, अनात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित १० श्लोकों की रचना साधन की दृष्टि से की[1]।

इसी प्रकार निम्बार्क सम्प्रदाय की उत्पत्ति का क्षेत्र व्रज-मण्डल है। यहाँ रहकर सम्प्रदाय की स्थापना तथा उसकी अभिवृद्धि के लिए निम्बार्क ने क्या-क्या कार्यकलाप किये, इन तथ्यों के विषय में विशेष जानकारी ऐतिहासिक सामग्री के अभाव में नहीं हो पाती है। साधारणतया किसी महापुरुष के पश्चाद्भावी शिष्य या भक्त अपने गुरु के नाम पर सम्प्रदाय का संगठन करते हैं। निम्बार्काचार्य भी एक ऐसे ही सन्त थे जो कि लौकिक प्रयत्नों की अपेक्षा भगवान्के भजन-ध्यान के सहारे ही अपने जीवनयापन की साफल्यता पर विशेष महत्व देते थे।

निम्बार्काचार्य के 'दशश्लोकी' ग्रंथ से प्रकट होता है कि सम्प्रदाय में द्वैताद्वैत दर्शनकी प्रतिष्ठा करने वाले निम्बार्क आचार्य बैष्णव भक्तिके क्षेत्र में राधाकृष्ण की युगल-भक्ति के प्रवर्त्तक भी थे[2]। दशश्लोकी के पांचवे श्लोक में राधा-कृष्ण की युगल भक्ति की उपासना की प्रधानता की छाप स्पष्टतः दिखाई देती है[3]। ईसा से पूर्व कृष्णोपासना प्रचलित थी। जिसका कि संकेत पाणिनी के सूत्रों द्वारा प्राप्त होता है किन्तु इस समय तक राधा-कृष्ण की युगल-उपासना का सूत्रपात नहीं हुआ था। किन्तु शंकराचार्य से पूर्व युगलोपासना का प्रचलन हो चुका था। संस्कृत साहित्य के ग्रंथों—वेणीसंहार (८वीं शताब्दी) हर्षचरित (७वीं शताब्दी) आदिके आधार पर राधाका कृष्ण के साथ अस्तित्व ईसा की प्रथम शताब्दी से ७वीं शताब्दी तक स्पष्ट प्रकाशित होता है, जिसका कि आगे चलकर दक्षिण प्रदेश पर प्रभाव पड़ा और वहाँ की 'आण्डाल' भी राधा भाव का प्रतीक बन गई।

---

१. इह खलु सकललोकहितावतारः सुदर्शनः श्रीनिम्बार्कोभगवान्मंदमतीन् जनान् वीक्ष्यतेषामात्मानात्मापरमात्मासंबोधाय दशश्लोकीमपि चकार साधनत्वेन च। तत्वसारप्रकाशिनी टीका वर्सो पत्रांक—१

२. आ. प. व्य. कृ. पृ० ३७

३. आ. के. का. भ. व्य. कृ. पृ०११७, अप्रकाशित शोधग्रन्थ

कुछ आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि इस 'राधावाद' के कारण ही निम्बार्काचार्य ही एक ऐसे व्यक्ति हुए जिन्होंने राधा को कृष्ण की अर्द्धाङ्गिनी के रूप, शक्तिरूपा आह्लादिनी के रूप में सर्वप्रथम प्रतिष्ठित किया और सम्प्रति विभिन्न सम्प्रदाय में उसका प्रभाव प्रचुरमात्रा में दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी साहित्य में तो राधाकृष्ण काव्य के सर्वस्व हैं। हिन्दी का प्राचीनकाव्य तो संदिग्धता की परिधि में अधिकाधिक प्रतिबद्ध हुआ जाता है और मध्यकाल में तो राधाकृष्ण सर्वस्व ही हैं। उन्हीं के ऐश्वर्य तथा माधुर्य का प्रकाशन कवियों का लक्ष्य रहा है। अतः निम्बार्काचार्य ने जो तत्व साहित्य को प्रदान किया वह राधाकृष्ण का महत्वपूर्ण अस्तित्व है जिस पर साहित्य-सृजन का विस्तृत विधान आधारित है[1]

'दशश्लोकी' की पुण्य रचना से माधुर्य शक्ति का बीजारोपण हुआ जिसने कि कालान्तर में हिन्दी साहित्य तथा संस्कृत साहित्य में विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लिया। सम्प्रति इस वृक्ष के परिपक्व फलों का आस्वादन करते-करते सन्त, महात्मा, भक्त, कवि, साहित्य प्रेमी तथा विद्वान् अघाते नहीं हैं हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि—बिहारी, घनानन्द, रसखान ब्रज-निधि रसिकगोविन्द आदि अनेक साहित्य-मर्मज्ञों ने सम्प्रदाय से प्रेरणा प्राप्तकर काव्य सरिता को सतत् प्रवाहित रखा। जयपुर नरेश 'महाराजा प्रतापसिंह' ने भी युगलोपासना सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ व्रजभाषा में रचकर व्रज साहित्य के भण्डार की श्रीवृद्धि की है।

निम्बार्काचार्य ने भारत के विभिन्न स्थानों में तपस्या की थी, पर उनका मुख्यनिवास नीमग्राम आश्रम था[2]। ज्ञातव्य है कि इसी स्थान पर निम्बार्काचार्य ने ग्रन्थों की रचना की थी क्योंकि उनके पट्ट शिष्य श्रीनिवासाचार्य नीमग्राम के समीप राधाकुण्ड नामक स्थान पर रहते थे। उस काल में नीमग्राम की स्थिति सघन लता-पत्रों से मनोहर थी। पश्चिम

१. नि. सु. प. पृ० २७-२८

२. वेदान्तपारिजातसौरभ एवं वेदान्तकोस्तुभभाष्य—सम्पादक डा० रमाबोस पृ० ४

दिशा कामवन की ओर आवागमन का उधर से मुख्य रास्ता था। आर्य धर्म के प्रचार और भजन-ध्यान के लिए उस समय वहीं उपयुक्त शान्त वातावरण था। इसलिए निम्बार्काचार्य ने गोवर्द्धन से परे नीमग्राम में प्रमुख निवास रखा और उसी सुरम्य शान्तप्रदेश से सम्प्रदाय का विस्तार किया[1]।

'दशश्लोकी' ग्रन्थ की रचना के अन्तराल से एक घटना विशेष प्राप्त होती है—श्रीनिवास आचार्य जो कि निम्बार्काचार्य के साक्षात् शिष्य थे की शिक्षा दीक्षा निम्बार्काचार्य जी के आश्रम में हुई। निम्बार्काचार्य ने बालक को सभी धर्मों की शिक्षा दी और 'दशश्लोकी' की रचना उसको शिक्षा देने के निमित्त की[2]।

'दशश्लोकी' का अपना एक दार्शनिक महत्व भी कम नहीं है। इसमें द्वैताद्वैत दर्शन का प्रतिपादन हुआ है। निम्बार्काचार्य के मत में—ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति-ये तीनों तत्व अनादि हैं। उनका कहना है कि श्रुति-स्मृति एवम् ब्रह्मसूत्रों द्वारा यह बात सिद्ध है कि एक ही ब्रह्म चित् (भोक्ता अर्थात् जीव) अचित् (भोग्य अर्थात् प्रकृति या माया) इन दोनों से विलक्षण परब्रह्म रूप में स्थित है। उन्होंने बादरायण (वेदव्यास) कृत ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य किया है जो 'वेदान्त पारिजात सौरभ' के नाम से विख्यात है। इस ग्रन्थ में निम्बार्काचार्य ने चित् (जीव) और अचित् (प्रकृति) को ब्रह्म से स्वभावतः भेद और अभेदरूप में सिद्ध किया है। अतः इनका सिद्धान्त लोक में स्वाभाविक भेदाभेद (द्वैताद्वैत या भिन्नाभिन्न) नाम से प्रसिद्ध है।

निम्बार्काचार्य के मत में यह स्वाभाविक भेद-अभेद केवल सत्य ही नहीं अपितु नित्य भी हैं। अर्थात् सब समय सब अवस्थाओं में भेद और अभेद वर्तमान है। इनके मतानुसार ब्रह्म कारण है और जीव जगत् कार्य है। ब्रह्म शक्तिमान् है, जीव और जगत् ब्रह्म के अन्तर्गत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश है। कारण और कार्य, शक्ति और शक्तिमान् अंश और अंशी में भेद यथार्थ, स्वाभाविक और नित्य है।

१. व्रज का इतिहास— डा. कृष्णदत्त वाजपेयी, भाग–१ पृ० २८

२. निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी कवि—डा० नारायणदत्त शर्मा, पृ० २५।

ब्रह्म ध्येय, ज्ञेय और प्राप्तव्य है। जीव ध्याता, ज्ञाता और प्रापक है। ब्रह्म सृष्टि स्थिति और प्रलय का कर्त्ता है, सर्वव्यापी पूर्ण और स्वाधीन है। जीव सृष्टि कर्तृत्वादि शक्तिहीन, अणुमात्र और पराधीन हैं। केवल बद्धजीव ही नहीं मुक्त जीव भी ब्रह्म से भिन्न है। ब्रह्म और जीवों का यह स्वभावगत भेद और धर्मगत भेद नित्य है; परन्तु ब्रह्मजीव और जगत् के अन्दर स्वाभाविक भेद जिस प्रकार से सत्य है उसी प्रकार स्वाभाविक अभेद भी सत्य है।

कारण कार्य से गुण में और कार्य में भिन्न है किन्तु स्वरूपतः अभिन्न भी है यथा—मिट्टी का घड़ा मिट्टी से भिन्न है क्योंकि घड़े का आकार और जल आदि का धारण करना मिट्टी के ढेले आकार और कार्य से पृथक् है किन्तु भिन्न होने से मिट्टी का घड़ा मिट्टी से अभिन्न है, क्योंकि मिट्टी का घड़ा मिट्टी को छोड़कर दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण दृश्य (कारणात्मक जगत्) जब ब्रह्म स्वरूप ही है तो फिर प्रकृति के सम्पूर्ण पदार्थ भी यथार्थ (सत्य) ही हैं, मिथ्या भ्रम नहीं। केवल परिणामी होने के कारण मिथ्या, विनश्वर आदि शब्दों से जगत् का निर्देश किया गया है। निम्बार्काचार्य जगत् सृष्टि में सांख्य के सत्कार्यवाद को स्वीकार करते हैं।

उपर्युक्त तत्वत्रय के सम्बन्ध में आचार्यों का कहना है कि ब्रह्म स्वतन्त्र है। जीव और जगत् ये दोनों तत्व सदा-सर्वदा ब्रह्म के आधीन हैं अतः परतन्त्र हैं। ये किसी भी अवस्था में स्वतन्त्र नहीं हैं। सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति पालन करने वाला तथा संहार करने वाला ब्रह्म ही है। अतः ब्रह्म स्वतन्त्र है, जीव और जगत् उनके आधीन है, अतः परतंत्र है। इस समस्त चराचर जगत् की स्थिति और प्रवृत्ति ब्रह्म के आधीन है, अतएव ब्रह्म जगत् के अर्न्तआत्मा हैं। जिस वस्तु की आत्मा ब्रह्म हो, उसे ब्रह्मात्मक कहते हैं। जीव और जगत् की आत्मा ब्रह्म है इसलिए सम्पूर्ण विश्व ब्रह्मात्मक कहा जाता है। अतः जगत् ब्रह्म से अभिन्न है।

निम्बार्क मत में जीव अणु, ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञानवान् है। शुभाशुभ कर्मों के कर्त्ता एवम् कर्मफलों के भोक्ता हैं। जीव तीन प्रकार के हैं—(१) बद्ध जीव (२) मुक्तजीव (३) बद्ध मुक्त। जीव प्रतिबिम्ब नहीं है और न ही प्राकृतिक जगत् मिथ्या ही है, अतएव जीव सर्वथा ब्रह्म से भिन्न नहीं है। निम्बार्क के सिद्धान्तानुसार 'तत्वमसि' महावाक्यों का यही तात्पर्य है। जगत् के परिणामी होने के कारण ही इसके लिए विनश्वर आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। ब्रह्म से जीव जगत् का भेदाभेद औपाधिक (मायाजन्य या भ्रममूलक) नहीं किन्तु यह भेदाभेद स्वभावतः होने के कारण स्वाभाविक भेदाभेद है।

समस्त चराचर जगत् ब्रह्म का अंश एवम् परा-परात्मिका प्रकृति (शक्ति) होने के कारण सत्य है। इसीलिए किसी भी प्राणी को दुःख पहुंचाना एवं उसके साथ द्वेष करना ईश्वर को ही दुःख पहुंचाना है। जगत् रूपी कार्य ईश्वर रूपी कारण का है अतः उससे अभिन्न है और कार्यरूप होने से उससे भिन्न भी है यथा—स्वर्ण तथा स्वर्णनिर्मित आभूषण।

अविद्या, अव्यक्त और प्रकृति ये सभी नाम 'माया' के ही हैं। जीव इसी माया के वशीभूत हुआ जगत् के नियन्ता को भूल जाता है और माया को ही अच्छा समझने लगता है। माया ब्रह्म की अपार शक्ति है। इस अविद्या को भक्त कवियों ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है। जीव को भक्तिमार्ग से पदच्युत करके विषय-वासनाओं में लगाना ही इसका धर्म है। ब्रह्म ने माया को किस रूप में बनाया है, यह जानना बहुत कठिन है। माया को यदि ब्रह्मरूपी बाजीगर की बाजी कह दिया जावे तो कोई अतिशयोक्ति न होगी क्योंकि माया उसकी बाजी की तरह ही अगोचर है। जीव माया के द्वारा ही नचाया जाता है। जीव को बलात् अपने माया पाश में आबद्ध कर लेना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है।

दशश्लोकी की विभिन्न टीकाएं—

निम्बार्काचार्यकृत 'दशश्लोकी' पर अनेक विद्वानों ने विभिन्न टीकायें की हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) वेदान्तरत्नमंजूषा—पुरुषोत्तमाचार्य, प्रकाशित। इस टीका की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन के पुस्तकालय

में संग्रहीत है। संस्कृत कैटलॉग के भाग–३ में इस प्रति की प्राप्ति संख्या ६०६८ तथा क्रम संख्या ७८२२ है।

(२) **वेदान्तसिद्धान्तरत्नाञ्जलि** –हरिव्यासदेवाचार्य, प्रकाशित। इस टीका की एक हस्तलिखित प्रतिलिपि वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन के पुस्तकालय में संग्रहीत है। संस्कृत कैटलॉग के भाग—३ में इस प्रति की प्राप्ति संख्या ६०८२ तथा क्रम संख्या ७८२६-इ है।

(३) **सिद्धान्तकुसुमाञ्जलि**—हरिव्यासदेवाचार्य, प्रकाशित।

(४) **लघुमंजूषा** – अप्रकाशित, श्रीगिरधारीदास।

(५) **वेदान्तरत्नमाला**—श्रीअनन्तराम, प्रकाशित।

(६) **वेदान्तकामधेनु** –पं० दुलारे प्रसाद शास्त्री, प्रकाशित।

(७) **अर्थपंचक निर्णय**—पं० श्रीलाड़िलीशरण ब्रह्मचारी, प्रकाशित।

(८) **तत्वसार प्रकाशिनी** – नन्ददासकृत प्रस्तुत टीका, संस्कृत कैटलॉग भाग—३, प्राप्ति संख्या ६३४० तथा क्रम संख्या ७८१६ इस टीका की दो प्रतिलिपियाँ वृन्दावनस्थ श्रीजी के मन्दिर के संग्रहालय में संग्रहीत हैं।

निम्बार्काचार्यकृत दशश्लोकी 'वेदान्तकामधेनु' नाम से सुविख्यात है। इस रचना में केवल १० श्लोक होने के कारण ही यह दशश्लोकी कही जाती है। इन टीकाओं में सर्वातिप्राचीन टीका श्रीनिम्बार्काचार्य के पश्चाद्वर्ती श्रीपुरुषोत्तमाचार्य जी की 'वेदान्तरत्नमंजूषा' है। यह टीका अत्यन्त विशद् तथा विस्तृत है। यह टीका अद्यावधि प्रकाशित हो चुकी है और उसकी भी संस्कृत टीका कुछ वर्षों पूर्व पं० श्रीअमोलकरामजी शास्त्री जी ने की थी। अधिकारी पं० ब्रजवल्लभशरण जी ने इसकी हिन्दी टीका की थी जिसको श्रीबिहारीदासजी ने प्रकाशित किया था।

वि० की १५वीं तथा १६वीं शताब्दी के हरिव्यासदेवाचार्य ने इस दशश्लोकी पर 'सिद्धान्तरत्नाञ्जलि' नामक विस्तृत और 'सिद्धान्त-कुसुमाञ्जलि' नामक दो टीकायें लिखी थीं। टीका के अन्त में आपने लिखा है—

ब्रह्म सत्यं जगत्सत्यं सत्यं भेदमपि ब्रुवन्।
[1] निम्बार्काभगवान् विद्भिः सत्यवादी निगद्यते॥

दशश्लोकी में वर्णित अर्थपञ्चक[2] का परमविश्लेषण महावाणीमें हुआ है। अथवा यों कहा जाय कि वेदान्तकामधेनु की सरस व्याख्या महावाणी है, वेदान्तकामधेनु में दिग्दर्शित रसोपासना का महाविकास महावाणी है[3]।

श्रीशंकराचार्य ने भी दशश्लोकों की रचना की है जिस पर 'सिद्धान्त-बिन्दु' नामक टीका मधुसूदन सरस्वती ने की है। किन्तु उसमें—'न भूमि र्न तोयं' इत्यादि सब कुछ निषेधात्मक वर्णन किया है। शिवोऽहं, केवलोऽहं, केवल शिव (परब्रह्म) का ही अस्तित्व माना है।

वृन्दावन शोध संस्थान, में निम्बार्काचार्य कृत दशश्लोकी के 'वेदान्त-कामधेनु' नामक ग्रन्थ पर तीन टीकायें संग्रहीत हैं जिनमें दो टीकायें मध्यम अवस्था में हैं तथा पूर्ण हैं। हरिव्यासदेवाचार्यकृत एक टीका जीर्ण-शीर्ण अवस्था में तथा अपूर्ण है। इनके अतिरिक्त दशश्लोकी की अन्य मूल हस्त-लिखित प्रतियों की संख्या ७ है जिनका कि विवरण इस प्रकार है—

संस्कृत कैटलॉग भाग—१

	क्रम सं०	प्राप्ति सं०
१—	११३६	३८१७

भाग—२

१—	४२६५	४०५६—ब

भाग—३

१—	७८१५	६१४०

---

१. दशश्लोकी पर 'सिद्धांतकुसुमांजलि' टीका का अन्तिम भाग।

२. उपास्यरूपं तदुपासकस्य च, कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्ते र्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पंच साधुभिः॥

३. श्रीनिम्बार्कसुधा (पत्रिका) पृ० २३
श्रीनिम्बार्क मुद्रणालय पारीक कालेज जयपुर, वि. सं. २०३६

२—	७८१७	९९५८
३—	७८१८	९९८८
४—	७८१९	१०४२२
५—	७८२०	१०४७१

तत्वसार-प्रकाशिनी टीका तथा टीकाकार

आचार्य नन्ददास की 'तत्वसारप्रकाशिनी' टीका अन्य पूर्वाचार्यों द्वारा की गई टीकाओं—वेदान्तरत्नमंजूषा (पुरुषोत्तमाचार्य) वेदान्तसिद्धांत-रत्नाञ्जलि (हरिव्यासदेवाचार्य) की अपेक्षा स्वल्पाकार है। टीका की रचना अन्य टीकाओं के पश्चात् होने के कारण हम इसे आधुनिक कह सकते हैं।

टीकाकार ने टीका करते समय श्लोक तथा श्लोक की संख्या तथा उस श्लोक की टीका जहाँ समाप्त होती हैं, वहाँ पर भी संख्या दी है जिससे कि यह जानने में बड़ी आसानी हो जाती है कि अमुक श्लोक की टीका यहाँ से यहाँ तक है। लिपिकार ने लिपि में व तथा ब में कोई अन्तर नहीं रखा है उन्होंने 'ब' के स्थान पर 'व' का ही प्रयोग किया है।

इस टीका में आ० नन्ददास ने तत्वत्रयी (ब्रह्म जीव तथा प्रकृति) की व्याख्या अत्यन्त सरल तथा संक्षिप्त एवं सुस्पष्ट ढंग से की है जब कि अन्य टीकाकारों द्वारा की गई व्याख्याएँ विशद्, क्लिष्ट तथा सरलतया बुद्धिगम्य नहीं हैं। सम्प्रति यह टीका अप्रकाशित है।

टीका की रचना द्वारा टीकाकार ने न केवल निम्बार्क सम्प्रदाय की ही श्रीवृद्धि की है अपितु संस्कृत साहित्य के द्वैताद्वैत दर्शन की भी पुष्टि की है। टीकाकार ने टीका करते समय विभिन्न वादों का खण्डन तथा स्वमत का मण्डन किया है जिससे उनका पाण्डित्य स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

आकार—सम्पूर्ण टीका ६ पृष्ठों में उपलब्ध होती है। इस प्रतिलिपि का प्रथम तथा अन्तिम पृ. सादा है तथा किसी पृ. पर १२ पंक्तियाँ तथा किसी पर

इनसे अधिक पंक्तियाँ लिखी हुई हैं। ३६·६ × १८·६ सेमी०

आरम्भ—श्रीगोपालकृष्णाय नमः। श्रीमन्मदनगोपालपादपंकेरुहं द्वयम्। प्रणम्य क्रियते व्याख्या तत्वसारप्रकाशिनी ।१। इह खलु सकललोक-हितावतारः ५ सुदर्शनः श्रीनिम्बार्कोभगवान्मंदमतीन् जनान् वीक्ष्यतेषामात्मा-नात्मपरमात्मसंबोधाय दशश्लोकीमपि चकार साधनत्वेन च।

मध्य—वामाङ्गसहिता देवी राधावृन्दावनेश्वरीति। कृष्णो मंगलरूपं युगलस्वरूपं श्रीसनकसंप्रदायभिः। सर्वैरपि ध्येयमित्याशयेनाह अङ्ग इत्यादिना ············सकलेष्टकामदां अभीष्टप्रदां। श्रीगोपीनो रासमण्डले भगवतोनेकरूपत्वं रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादिश्रुतिप्रतिसिद्धं बोध्यम्।

अन्त—प्रपत्तिः शरणागति। सा च षौढा—
आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम्, रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥
—कुमारोक्तेः

भवतापप्रहर्तारं वांछित्तार्थप्रवर्षिणां।
आश्रयं सुविहंगानां निम्बार्कप्रभुमाश्रये॥

इति श्री नन्ददासस्वामी विरचिता तत्वसारप्रकाशिनी सम्पूर्णा। संवत् १९४८ आषाढ़ शुक्ला नवमी ।९। बुधवार

हस्ताक्षर रघुनाथदासस्य। श्रीवृन्दावने यमुनातीरे। श्रीकृष्णार्पण-मस्तु। श्रीरस्तु शुभम्।

भाषा—तत्वसारप्रकाशिनी टीका की भाषा सुसंस्कृत, परिष्कृत तथा समास बहुला है। यत्र-तत्र लिपिकार ने संस्कृत के तद्भव रूपों का प्रयोग किया है।

	तद्भवरूप—	तत्समरूप—
१—	षोडा	षोढा
२—	सरनागति	शरणागति
३—	आषाड	आषाढ़
४—	आसयेन	आशयेन

भाषा में यत्र-तत्र व्याकरणात्मक टिप्पणियां भी उपलब्ध होती हैं—

अविचिन्त्यम्—ब्रह्मादिभिरविदितं चेष्टितं यस्य तस्मात।

वाक्यों ने कहीं लघुकाय तथा कहीं दीर्घकाय रूप धारण कर लिया है यथा—

लघुकाय—अचेतनम् निरूपयति।

दीर्घकाय—अप्राकृतमित्यादिना यद्यपि चेतनाचेतनयोश्चेतनस्यैवाद्यातत्रापि परमचेतनस्य परमात्मन अतएव परमात्मन प्रथमं निरूपणं युक्तम्।

शैली—नन्ददासजी की शैली अत्यन्त रोचक, सुन्दर, सुस्पष्ट तथा प्रभावपूर्ण है। इनकी शैली अध्येता के मानस पटल पर अपने पांडित्य की पूर्ण छाप लगाने में सक्षम है। यद्यपि दर्शन जैसा विषय अत्यन्त क्लिष्ट तथा नीरस है तथापि आचार्य नन्ददास की आख्यान शैली इस प्रकार की है कि वे जिस विषय को ग्रहण करते हैं उसको समझाने का भरसक प्रयत्न करते है और उसकी पुष्टि श्रुतियों, स्मृतियों, श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता के विभिन्न उद्धरणों द्वारा करते जाते हैं।

टीकाकार सर्वप्रथम श्लोक से सम्बन्धित प्रस्तावना को प्रस्तुत करते हैं। तदनन्तर मूल श्लोक को उद्धृत करते हुए उसकी टीका करते हैं। व्याख्या करते समय श्रुति, स्मृति आदि के उद्धरण प्रमाणस्वरूप प्रस्तुत करते चलते हैं यथा—

"श्रीगोपालचरणकमलअधिगच्छतां सतां पदार्थत्रयमेवोपादेयम्। पदार्थत्रयं च। आत्मानात्मापरमात्माचेति तत्र प्राप्ततया जीवात्मनोहेयत्वेना नात्मनः। प्राप्यत्वेन परमात्मनो निरूपणम्। तत्रादौ श्लोकद्वयेन जीवस्वरूपं जीवानांपरस्परभेदश्च निरूप्यते ज्ञानेत्यादिना। ज्ञानस्वरूपमित्यनेन जीवस्य ……………… हरेरधीनम्। ईश्वरकृपाजन्यज्ञान—

श्रीकृष्णायनमः।

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववंतं यदनन्तमाहुः॥१॥

क्रियाशक्तिकं। तमेवभान्तमनुभातीति श्रुते। यः आत्मनितिष्ठन्नात्मानमंतरोयम् प्रतीत्यादिश्रुतेश्च।

खण्डन मण्डन के प्रसङ्ग में शैली अपेक्षाकृत क्लिष्ट हो गई है जैसे—

"श्रुतिभिः मोक्षदशायामपिभेदस्वाभादश्रवणाच्च भेद स्वाभाविक इति ज्ञायते। ननु तत्वमसि नान्योतोस्तिद्दष्टा अयमात्मा ब्रह्मेत्याश्रुतिभि। ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः इत्यादि स्मृतिश्चाभेदः। प्रतीयते इति चेन्न। ज्ञाज्ञो द्वौ सुपर्णौ सयुजा इत्येवमादि श्रुतिशतैरात्माभेदप्रतिषेधात् ……
……इति मोक्षदशायो भेदः निषेधादभेदः, स्वाभाविक इति चेन्न।

नन्ददास का परिचय-

टीका के रचनाकार निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी आचार्य नन्ददास थे। उनके जीवन परिचय के विषय में अद्यावधि किञ्चिन्मात्र सामग्री उपलब्ध नहीं होती।

समय—केवल अन्तःसाक्ष्य के आधार पर ही हम आचार्य नन्ददास का समय निर्धारित कर सकते हैं।

१—आचार्य नन्ददास ने दशश्लोकी की टीका 'तत्वसारप्रकाशिनी' के अन्तर्गत[1] केशवकाश्मीरी के नाम का उल्लेख अवश्य किया है, जिसके आधार पर हम इनको आचार्य केशवकाश्मीरी का पश्चाद्वर्ती मान सकते हैं। केशवकाश्मीरी की विद्यमानता वि. की १४वीं शताब्दी की थी[2]। इस समय मुसलमान शासन के अन्तर्गत खिलजी वंश ने शासन की सत्ता सँभाल रखी थी। अलाउद्दीन खिलजी का शासनकाल १३५३-१३७३ तक है।

२—इसी प्रकार श्लोक दो की टीका के अन्तर्गत हरिव्यासदेवाचार्यकृत

१. श्रीमत्केशवकाश्मीरचरणैरुक्ता: तत्वसारप्रकाशिनी पत्रांक ५ रेवटो, श्लोक ६ की टीका।

२. आचार्य केशवकाश्मीरी भट्ट व्यक्तित्व एवं कृतित्व पृष्ठ २३

"वेदान्तसिद्धान्त रत्नाञ्जलि" की चर्चा की गई है[1]। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि हरिव्यासदेवाचार्य की स्थिति आचार्य नन्ददास से पूर्व थी।

टीका का रचनाकाल—

आचार्य नन्ददास के जीवन परिचय के विषय में निश्चित जानकारी के अभाव में यह कह सकना सम्भव नहीं है कि इस टीका का रचनाकाल क्या है ? टीका के अंत में लिपिकार ने अपना नाम, समय तथा स्थान के विषय में उल्लेख अवश्य किया है[2]। जिसके आधार पर हम इसे १८६१ ई० के समय में लिखा हुआ मान सकते हैं।

सम्प्रदाय में भक्तों के प्रति आदरभाव प्रकट करने के लिए ही उनके नाम के आगे या पीछे 'आचार्य' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा— आचार्य नन्ददास, निम्बार्काचार्य। किन्तु लिपिकार ने टीका के अन्त में 'नन्ददास स्वामी' ऐसा नामोल्लेख किया है।

आचार्य नन्ददास की टीका के अवलोकन के पश्चात यह तथ्य सामने आता है कि नन्ददास एक स्वतन्त्र दार्शनिक विचारक नहीं हैं अपितु निम्बार्क सम्प्रदाय के अनुयायी भक्त हैं। टीका के माध्यम से सम्प्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन और प्रचार करना तथा वादों का खण्डन करना उनका लक्ष्य है।

•

१. "ते च भेदाः सिद्धान्त रत्नांजलौ द्रष्टव्या."।
तत्वसारप्रकाशिनी, पत्राङ्क २ रेक्टो, श्लोक दो की टीका।

२. इति श्रीनन्ददासस्वामीविरिचिता तत्वसारप्रकाशिनी सम्पूर्णा। संवत् १६४८ आषाढ़ शुक्ला नवमी ६, बुधवार। हस्तोक्षर रघुनाथदासस्य। श्रीवृन्दावने यमुनातीरे। श्रीकृष्णार्पणमस्तु। श्रीरस्तु शुभम्।
तत्वसारप्रकाशिनी टीका--पत्राङ्क ६ रेक्टो

मूल दशश्लोक

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनं,
शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं,
ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहुः ॥१॥

अन्वय—ज्ञानस्वरूपं ज्ञातृत्ववन्तं हरेरधीनं हि अणुं प्रतिदेहभिन्नं शरीरसंयोगवियोगयोग्यं यत् अनन्तं जीवं आहुः ।

शब्दार्थ—ज्ञानस्वरूपम्=स्वयं प्रकाशस्वरूप । ज्ञातृत्ववन्तम्=जाननेवाला । हरेरधीनम्=भगवान के सदा आधीन रहने वाला । हि=निश्चय । अणुम्=अणु परिमाण वाला । प्रतिदेहभिन्नम्=प्रत्येक शरीर में अलग-अलग रूप से विद्यमान । शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्=शरीर के साथ मिलने तथा बिछुड़ने योग्य । यत्=जो । अनन्तम्=असंख्य । जीवम्=जीवात्मा । आहुः=कहते हैं ।

अनुवाद—जीव स्वयंप्रकाश स्वरूप है तथा ज्ञानवान भी है । यह सदा हरि के ही आधीन रहता है और निश्चय ही यह अणु परिमाण वाला है । जीव प्रत्येक शरीर में अलग-अलग विद्यमान है, शरीरों के साथ मिलना तथा उससे अलग होना इसका धर्म है । जीव असंख्य हैं, ऐसा (वेदवाक्य) कहते हैं ।

भावार्थ—जीव[1] ज्ञानस्वरूप अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप है और यह धर्मभूत ज्ञान का आश्रय भी है । यह सर्व अवस्थाओं में सर्वदा भगवान् के ही आधीन रहता है । जीव अनन्त हैं अर्थात् ब्रह्मा से लेकर पिपीलिका (चींटी) पर्यन्त जरायुज, अण्डज, स्वेदज तथा उदभिज-इन चार प्रकार की 'सृष्टि' के प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न रूप से विद्यमान रहता है और स्थूल शरीरों के साथ इसका संयोग तथा वियोग होता रहता है[2] ।

---

१. 'जीवम्' इस पद में एक वचन जीवत्व जाति के अभिप्राय से दिया गया है, ऐसा न मानने से प्रतिदेहभिन्नम् 'तथा' 'अनन्तम्' ये दो पद व्यर्थ से हो जाते हैं ।
(अ) जीव्+क् प्रत्यय
(आ) इस श्लोक में कर्त्ता पद नहीं है अतः इसका कर्ता वेदान्तवाक्य और महर्षिगण समझना चाहिए ।

२. वासांसि जीर्णानि यथा विहाय,
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानिदेही ।' —गीता, द्वि० अ०, श्लोक—२२

अनादिमाया परियुक्तरूपम्-
त्वेनं विदुर्वै भगवत्प्रसादात् ।
मुक्तं च बद्धं किलबद्धमुक्तम्,
प्रभेदबाहुल्यमथापि बोध्यम् ॥२॥

अन्वय—अनादिमायापरियुक्तरूपं एनं तु वै भगवत्प्रसादात् विदुः, अथ मुक्तं च बद्धं बद्धमुक्तं प्रभेदबाहुल्यं बोध्यं किल् ।

शब्दार्थ—अनादिमायापरियुक्तरूपम्=जिसका आदि तथा अन्त न जाना जा सके ऐसी माया से ढका हुआ । एवम्=इस जीवका यथार्थ स्वरूप । तु=किन्तु । वै=निश्चय । भगवत्प्रसादात्=भगवान् की कृपा से । विदुः=जाना जा सकता है । अथ=और । मुक्तम्=मुक्तजीव । च=और । बद्धम्=बद्धजीव । बद्धमुक्तम्=बद्धमुक्तजीव । प्रभेदबाहुल्यम्=भेद तथा उपभेद । बोध्यम्=समझना चाहिए । किल्=सम्भावना योग्य ।

अनुवाद—अनादिमाया से परिवेष्टित हुआ जीव अपने स्वरूप का ज्ञान भगवान् की कृपा से ही प्राप्त कर पाता है । जीव बद्ध तथा मुक्तरूप से दो प्रकार के हैं तथा बद्धों-मुक्तों के अनेकों भेद-प्रभेद हैं, ऐसा समझना चाहिए ।

भावार्थ—अनादिमाया से आवृत होने के कारण अपने स्वरूप को भूल जाता है जब भगवान उस जीव पर दया करते हैं तो उसका वह माया का आवरण हट जाता है और वह अपने स्वरूप को जान लेता है । त्रिगुणात्मिका माया जीव के स्वरूप और धर्मभूत ज्ञान को ढक देती है जिससे जीव को सत् में असत् तथा असत् में सत् की प्रतीति होने लगती है ।

माया— मीयते यस्यामिति
मा+य+टाप्=माया
प्रकृति – प्र+कृ+क्तिन्

अप्राकृतं प्राकृतरूपकञ्च
कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् ।
मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं
शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥३॥

अन्वय—(यत्) अप्राकृतं प्राकृतरूपकं च कालस्वरूपं तदचेतनं मतम् (तत्र प्राकृतम्) मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं, तत्र समेऽपि (सर्वेऽपि) शुक्लादिभेदाः (सन्ति) ।

शब्दार्थ—अप्राकृतम्=जो प्रकृति से उत्पन्न न हो । प्राकृतरूपकम्=जो प्रकृति से उत्पन्न हो । च=और । कालस्वरूप=कालस्वरूप । तदचेतनम्=वह अचेतन । मतम्=माना जाता है । मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यम्=माया प्रधान, अव्यक्त आदि पदों द्वारा कहा जाना चाहिए । तत्र=वहाँ । समेऽपि=समस्त । शुक्लादिभेदाः=शुक्ल, लोहित तथा तामस माया के सत्वादिगणों के रूप हैं ।

अनुवाद—अचेतन तीन प्रकार का माना गया है—(१) प्राकृत (२) अप्राकृत तथा (३) काल । प्राकृत शब्द से माया, प्रधान तथा अव्यक्त और व्यक्तादि का बोध होता है जिसमें शुक्ल, लोहित तथा कृष्ण वर्ण वाले सत्व, रज तथा तमोगुणों की विद्यमानता रहती है ।

भावार्थ—अचेतन के विषय में कहते हैं कि यह तीन प्रकार का होता है—प्राकृत, अप्राकृत तथा काल । अब प्राकृत के विषय में समझाते हैं कि इसके लिए माया, प्रधान और अव्यक्त आदि नामों का भी प्रयोग किया जाता है । सत्व, रज तथा तम इन तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रकृति' है[1] ।

स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोष-
मशेषकल्याण गुणैकराशिम् ।
व्यूहाङ्गिनं ब्रह्म परं वरेण्यम्
ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणम् हरिम् ॥४॥

---

१. गुणसाम्यावस्था प्रधानम् —नन्ददासकृत तत्वसारप्रकाशिनी टीका ।
पत्रांक—३ देखो

अन्वय – स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषं अशेषकल्याणगुणैकराशिम् व्यूहाङ्गिनम् परमब्रह्म वरेण्यम् कमलेक्षणम् हरिम् कृष्णम् ध्यायेम् ।

शब्दार्थ—स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषम्=नैसर्गिकरूप से ही जो समस्त दोषों से निर्लिप्त रहता हो। अशेषकल्याणगुणैकराशिम्=मोक्षप्रदातृत्वादि सकलकल्याण तथा माधुर्यादि गुणों की खान। व्यूहाङ्गिनम्=वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध रूप चतुर्व्यूह में अंगी। ब्रह्म=व्यापक। परमवरेण्यम्=प्राप्त करने योग्य। कमलेक्षणम्=कमलदल के समान नेत्रवाले। हरिम्=भक्तों का दुःख हरने वाले वाले। कृष्णम्=श्रीकृष्ण का। ध्यायेम=ध्यान करते हैं।

अनुवाद—जो स्वभाव से ही समस्त दोषों से निर्लिप्त है, मोक्षप्रदातृत्वादि सकल कल्याण तथा सौन्दर्य माधुर्यादि अनन्त दिव्य गुणों की खान हैं, चतुर्व्यूह तथा अन्य अवतार जिसके अङ्ग हैं जो सर्वव्यापक हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, कमलदल के समान प्रफुल्लित नेत्रों वाले भक्तों के दुखों को हरने वाले, श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं।

भावार्थ—भगवान् समस्त दोषों से निर्लिप्त हैं। उनमें समस्त कल्याणकारी गुण विद्यमान रहते हैं। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध—ये चारों व्यूह उसके अंग हैं, भक्तों के दुखों का हरण करने वाले परब्रह्म श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं।

अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा
विराजमानामनुरूपसौभगाम् ।
सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सदा
स्मरेम देवीं सकलेष्टकामदाम् ॥५॥

अन्वय—वामे अंगे अनुरूपसौभगां सखीसहस्त्रैः परिसेवितां सकलेष्टकामदां देवीम् मुदाविराजमानां वृषभानुजां सदा स्मरेम तु।

ब्रह्म—वृह+मनिन् प्रत्यय
वरेण्य—वृ+एन्य

शब्दार्थ—वामेअंगे=बाँई ओर। अनुरूप सौभगाम्=श्रीकृष्ण के मनोनुकूल सुन्दर विग्रह वाली। सखीसहस्त्रैः=हजारों सखियों द्वारा। परिसेविताम्=आवृत एवम् सेवित। सकलेष्टकामदाम्=समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाली। देवीम्=दिव्य। मुदाविराजमानाम्=प्रसन्न मुद्रा में बैठी हुई। वृषभानुजा=श्रीराधा। सदा=सदैव। स्मरेम=स्मरण करते हैं। तु=और (रुक्मिणी आदि)।

अनुवाद—(श्रीकृष्ण के) वामांग में रहने वाली (श्रीकृष्ण) के मनोनुकूल सुन्दर विग्रह धारण करने वाली, हजारों सखियों द्वारा आवृत्त तथा सेवित (भक्तों की) समस्त मनोवांछित कामनाओं को पूरा करने वाली, प्रसन्न मुद्रा में बैठी हुई, वृषभानु की पुत्री श्रीराधा का हम सदा स्मरण करते हैं। (तु शब्द से यहाँ रुक्मिणी आदि पट्टमहिषियों का संग्रह समझना चाहिए)

भावार्थ—श्रीकृष्ण के वामांग में सदैव श्रीराधा जी विराजमान रहती हैं। वे श्रीकृष्ण के दिव्यमंगलविग्रह एवं गुणादि के योग्य सुन्दर विग्रह वाली हैं। ललिता आदि सखियाँ निरन्तर उनकी सेवा में संलग्न रहती हैं। वे अपने भक्तों को उनकी इच्छानुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष प्रदान करती हैं। हम श्रीराधा देवी का सदैव ध्यान करते हैं। यहाँ 'तु' शब्द से ग्रन्थकार ने श्रीरुक्मिणी सत्यभामा आदि का भी संकेत करा दिया है।

उपासनीयं नितरां जनैः सदा
प्रहाणयेऽज्ञानतमोऽनुवृत्तेः ।
सनन्दनाद्यैर्मुनिभिस्तथोक्तम्
श्रीनारदायाखिलतत्वसाक्षिणे ॥६॥

अन्वय—अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः प्रहाणये नितरां सदा जनैः (एतत्) उपासनीयम्, अखिलतत्वसाक्षिणे श्रीनारदाय सनन्दनाद्यैः मुनिभिः तथा उक्तम्।

शब्दार्थ—अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः=अज्ञानरूपी अन्धकार का सम्बन्ध। प्रहाणये=दूर करने के लिए। नितराम्=निरन्तर। सदा=सदा। जनैः=भक्तों द्वारा। उपासनीयम्=उपासना करने योग्य है। अखिलतत्वसाक्षिणे=समस्त तत्वों का साक्षात्कार करने वाले। श्रीनारदाय=श्रीनारदजी के लिए सनन्दनाद्यैः=सनन्दनादि द्वारा। मुनिभिः=मुनियों द्वारा। तथा=ऐसा। उक्तम्=कहा गया है।

अनुवाद—मनुष्यों (भक्तों) को सदैव निरन्तर अज्ञानरूप अन्धकार के सम्बन्ध के नाश करने के लिए (राधाकृष्ण के युगलात्मक स्वरूप) की उपासना करनी चाहिए समस्त तत्वों का प्रत्यक्ष करने वाले सनन्दनादि मुनियों द्वारा श्रीनारद जी को इसी प्रकार का उपदेश दिया गया था।

भावार्थ—मुमुक्षुओं को अज्ञानरूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए गंगा प्रवाह की भांति निरन्तर श्रीराधाकृष्ण की आराधना करनी चाहिए। आदि आचार्य सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमारों द्वारा ऐसा ही उपदेश श्रीनारद जी को दिया गया था।

सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकं
श्रुतिस्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः।
ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतम्
त्रिरूपताऽपि श्रुति सूत्रसाधिता ॥७॥

अन्वय—हि श्रुति-स्मृतिभ्यो निखिलस्य वस्तुनः ब्रह्मात्मकत्वादतः सर्वम् विज्ञानम् यथार्थकम् इति, वेदविन्मतम् त्रिरूपता अपि श्रुतिसूत्रसाधिता।

शब्दार्थ—हि=निश्चय। श्रुतिस्मृतिभ्यो=श्रुतियों तथा स्मृतियों द्वारा। निखिलस्य=संसार की। वस्तुनः=वस्तुएँ। ब्रह्मात्मकत्वात्=ब्रह्मात्मक होने से। सर्वम्=सब कुछ। विज्ञानम्=ज्ञान। यथार्थकम्=सत्य है। वेदविन्मतम्=वेद उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों में मान्य। त्रिरूपता=ब्रह्म, जीव

---

१. नारद— नरस्य सम्बन्धी नारोऽज्ञानं तदद्यति खण्डयति इति नारदः।

अथवा

२. नारं ज्ञानं ददाति इति नारदः।

अथवा

३. नरस्य भगवत इदं नारं भगवत्स्वरूपगुणादि विषयकं ज्ञानं तद्ददाति इति नारदः।

अथवा

४. नरस्य प्रपन्नस्य सम्बन्धि नारं प्रपन्नहृदयं प्रददौ प्रकर्षेण शोधितवान् इति नारदः।

तथा प्रकृति। अपि=भी। श्रुतिसूत्रसाधिता=श्रुतियों के सूत्रों द्वारा प्रतिपादित की गई है।

अनुवाद—निश्चय ही श्रुतियों तथा स्मृतियों ने संसार की समस्त वस्तुएँ ब्रह्मात्मक ही प्रतिपादित की हैं, अतः समस्त वस्तुओं के ब्रह्मात्मक होने से विज्ञानरूप यथार्थ है। श्रुतियों तथा सूत्रों द्वारा इसकी त्रिरूपता (जीव, प्रकृति, ब्रह्म) प्रतिपादित की गई है।

भावार्थ—विश्व की सत्यता प्रमाणित करने के लिए इस श्लोक की रचना की गई है। चेतनाचेतन ब्रह्मात्मक होने से सब कुछ यथार्थ है। क्योंकि श्रुति तथा स्मृति सभी ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं, अतः विज्ञान यथार्थ है। कारण कि संसार को असत् बतलाने वाले कहते हैं कि शास्त्र आदि सभी असत् हैं। अर्थात् सब भ्रम होने से मिथ्या है, केवल एक ब्रह्म ही सत्य है। उनके इस मन्तव्य का श्रुतियों में उल्लेख नहीं मिलता, अपितु वे तो ब्रह्म, जीव तथा प्रकृति को भी सत्य बतलाती हैं।

नान्यागतिः कृष्णपदारविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात्।
भक्तेच्छयोपात्तसुचिन्त्यविग्रहा-
दचिन्त्यशक्तेरविचिन्त्यसाशयात् ॥८॥

अन्वय—ब्रह्मशिवादिवन्दितात् भक्तेच्छयोपात्त सुचिन्त्यविग्रहात अचिन्त्यशक्तेः अविचिन्त्य साशयात् कृष्णपदारविन्दात् अन्या गतिः न संदृश्यते।

शब्दार्थ—ब्रह्मशिवादिवन्दितात्=ब्रह्मा शंकरादि देवों द्वारा वन्दित। भक्तेच्छयोपात्त=भक्तों की इच्छा के अनुरूप अवतार लेने वाले। सुचिन्त्यविग्रहात्=सुन्दर विग्रह धारण करने वाले। अचिन्त्यशक्तेः=जिसकी शक्ति का पार पाना तो दूर रहा चिन्तन करना भी कठिन है। अविचिन्त्य=जिसके विषय में चिन्तन न किया जा सके। साशयात्=जिसके आशय को न जान सकें। कृष्णपदारविन्दात्=श्रीकृष्ण के चरणकमलों के अतिरिक्त। अन्या=

दूसरी । गतिः=आश्रय, सहारा । न=नहीं । संदृश्यते=दिखाई देती है ।

अनुवाद—ब्रह्मा शंकरआदि के द्वारा स्तवन किये जाने वाले, भक्तों की इच्छा के अनुरूप सुन्दर शरीर धारण करने वाले अचिन्त्य शक्ति वाले, (ब्रह्मा शंकरादि) कोई भी जिसके, आशय (मनोभाव) को न जान सकें ऐसे श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को छोड़कर (जीव) के लिए और कोई आश्रय लेने का स्थान नहीं दिखाई देता है ।

भावार्थ—श्लोक के प्रथम विशेषण द्वारा श्रीकृष्ण का अखिल ब्रह्माण्ड का नायकत्व सिद्ध होना तथा उनकी सर्वोत्तमत्ता का सिद्ध होना प्रतिपादित होता है । श्रीकृष्ण अपने भक्तों की इच्छा के अनुरूप ही अवतार धारण करते हैं यथा—वामन अवतार, नृसिंहावतार आदि[1] । श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति वाले हैं[2] । ब्रह्मा शंकर आदि देव भी जिसके आशय का पता लगाने में असमर्थ हैं । अर्थात् भगवान् कब, कहाँ और क्या करना चाहते हैं इसका ज्ञान उनको (ब्रह्मा, शंकर, आदि) भी नहीं हो पाता है ।

कहने का तात्पर्य यह है कि यद्यपि भगवान् श्रीकृष्ण सर्वोच्च ज्ञान, बल, क्रिया आदि शक्तियों से संपन्न हैं अतएव ब्रह्मा, शिव आदि भी उनके चरण कमलों की वन्दना करते हैं, तथापि सर्वशक्तिमान् होते हुए भी अपने प्रेमी भक्तों के वशीभूत होकर उनकी इच्छा के अनुसार विभिन्न रूपों को धारण करते रहते हैं ।

कृपास्य दैन्यादियुजिप्रजायते,
यया भवेत्प्रेमविशेषलक्षणा ।
भक्तिह्यनन्याधिपतेर्महात्मनः
सा चोत्तमा साधनरूपिका परा ॥९॥

---

१. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
गीता० अ० ४, श्लोक ७

२. पराऽस्य शक्ति विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी-ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतेः ।

अन्वय—(हि) अस्य अनन्याधिपतेः महात्मनः कृपा दैन्यादियुजि प्रजायते । यया प्रेमविशेषलक्षणा भक्तिः भवेत् सा (भक्ति) च उत्तमा; अपरा च साधनरूपिका (भवति) ।

शब्दार्थ—अस्य=भगवान् की । अनन्याधिपतेः=जिसका कोई दूसरा अधिपति न हो, सर्वोपरि । महात्मनः=महान् है आत्मा जिसकी । कृपा=दयादृष्टि । दैन्यादियुजि=दीनता आदि गुणों वाले व्यक्ति पर । हि=निश्चय से । प्रजायते=आविर्भूत होती है । यया=जिस कृपा के द्वारा प्रेमविशेषलक्षणा=भगवान् में अनुरागात्मिका भक्ति । भक्तिः=भक्ति भवेत्=होती है । सा=वह । च=और । उत्तमा=फलरूपा, श्रेष्ठ । अपरा=दूसरी । च=और । साधनरूपिका=साधनरूपा ।

अनुवाद—अखिलब्रह्माण्डनायक इस परमात्मा की कृपा दीनता आदि गुणों वाले व्यक्ति पर ही होती है । जिस कृपा के द्वारा भगवान् में प्रेमविशेष-लक्षणा भक्ति होती है, वह (भक्ति) उत्तमा कही जाती है और दूसरी अपरा साधनरूपा (नवधाभक्ति) मानी जाती है ।

भावार्थ—इस श्लोकमें भगवत् शरणागति, प्रपत्ति एवं परा और अपरा भक्ति ही उत्तमा मानी गई है । इसे पराभक्ति भी कहते हैं । साधनरूपा भक्ति जो कि सत्संग तथा श्रद्धापूर्वक श्रवण, मनन, कीर्तनादि रूपवाली नवधा भक्ति कहलाती है । अर्थात् प्रेमलक्षणा फलरूपा है और उससे अन्य साधनरूपा है । भगवान् उसी पर कृपा करते हैं जिसमें दीनता रूप भक्ति विनम्रता आदि गुण हों । जिसमें ये गुण न हों और अभिमानादि दुर्गुण भरे हों उस पर भगवान् की कृपा होना दुर्लभ है ।

उपास्यरूपं तदुपासकस्य च
कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम् ।
विरोधिनो रूपमथैतदाप्ते-
र्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पञ्च साधुभिः ॥१०॥

अन्वय—उपास्यरूपं च तदुपासकस्य कृपाफलं ततः परम् भक्तिरसः अथ ऐतदाप्तेः विरोधिनो रूपं इमे पंच अर्थाः अपि साधुभिः ज्ञेया ।

शब्दार्थ—उपास्यरूपम्=श्रीराधाकृष्ण युगलकिशोर भगवान्। च= और। तदुपासकस्य=उपासक (जीव) का स्वरूप। कृपाफलम्=कृपा का फल। ततः परम्=उसके पश्चात्। भक्तिरसः=भक्तिरस। अथ=इसके बाद ऐतदाप्तेः=इनकी प्राप्ति में। विरोधिनो=विघ्नस्वरूप। इमे=इन। पंचअर्थाः=पाँच विषय। उपास्य=उपासक, कृपा का फल, भक्तिरस तथा इन तत्वों की प्राप्ति में विरोधी (विघ्नस्वरूप) तत्वों का स्वरूप। अपि= अवश्य। साधुभिः=सज्जनों द्वारा, सन्तों द्वारा। ज्ञेया=जानने योग्य है।

अनुवाद—इष्टदेव के स्वरूप, उसकी उपासना करने वाले भक्त का स्वरूप, उपास्य की कृपा का फल और उसकी भक्ति का रस तथा इनकी प्राप्ति में विघ्नस्वरूप विरोधी ये पाँचों विषय साधुजनों को अवश्य जानने चाहिये।

भावार्थ—साधुजनों को सर्वप्रथम परमात्मा को जानना चाहिए कि वह परब्रह्म कैसा है ? कहाँ रहता है ? आदि। तत्पश्चात् जीव (उपासक) के स्वरूप के विषय का ज्ञान होना परमावश्यक है। मनुष्य को चाहिए कि वह यह ज्ञात करे कि वह (आत्मा) कौन है ? कैसा है ? कहाँ से आता है ? कहाँ जाता है ?, उसका इस संसार में क्या परमलक्ष्य है ? आदि। तदनन्तर जब उपासक अपने उपास्य की उपासना करने लगता है तो उसकी कृपा उस पर होती है। जिसके फलस्वरूप वह उपासना में तल्लीन हो जाता है और इस प्रकार उसे परब्रह्म श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त हो जाती है। इन समस्त विषयों की जानकारी के साथ-साथ इनके विघ्नस्वरूप अर्थात् भगवान् की प्राप्ति में बाधक—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि दूषित मनोवृत्तियों का भी ज्ञान होना परमावश्यक है।

•

तत्वसारप्रकाशिनी टीका सानुवाद

श्रीगोपालकृष्णाय[1] नमः। श्रीमन्मदनगोपालपादपंकेरूहद्वयम्[2]। प्रणम्य क्रियते व्याख्या तत्वसारप्रकाशिनी[3] ॥१॥ इह खलु सकललोकहितावतारः ५ सुदर्शनः श्रीनिम्बार्को भगवान्मन्दमतीन् जनान् वीक्ष्य[4] तेषामात्मानात्मपरमात्मसंबोधाय दशश्लोकीमपि चकार साधनत्वेन च ॥ श्रीगोपालचरणकमलमधिगच्छतां सतां पदार्थं[5] त्रयमेवीपादेयम् ॥ पदार्थत्रयं च। आत्मानात्मापरमात्मा चेति तत्र प्राप्तत्रया जीवात्मनो, हेयत्वेनानात्मनः। प्राप्यत्वेन परमात्मनो निरूपणम् ॥ तत्रादौ श्लोकद्वयेन जीवस्वरूपं जीवानां परस्परभेदश्चनिरूप्यते ज्ञानेत्यादिना ॥ ज्ञानस्वरूपमित्यनेन जीवस्य जडत्वव्यावृत्तिः क्रियते।। तथा च श्रुतिः।। योयं विज्ञानघनः अत्रायं[6] पुरुषः स्वयंज्योतिरित्यादिः। चात् ज्ञानाश्रयत्वे सति ज्ञानरूपत्वमात्मत्वमिति लक्षणं फलितम् ॥ हरेरधीनम् ॥ ईश्वरकृपाजन्यज्ञान क्रियाशक्तिकम्। तमेवभान्तमनुभातीति[7] श्रुतेः ॥ य आत्मनि तिष्ठन्ना[8]त्मानमंतरोयम् प्रतीत्यादि श्रुतिश्च ॥ शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ॥ निजकृतकर्मवशतया शरीराणि प्राप्नोतीत्येवं विधं देवमनुष्यतिर्य्यक् स्थावराख्यानि शरीराणि। शरीरं च त्रिगुणात्मक ॥ प्रकृतिपरिणामरूपभूतसंघातः। लिङ्गशरीरं तु[9] सप्तदशावयवं ॥ अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रिय पंचकं। बुद्धिमनसीकर्मेन्द्रिय[10] पंचकं वायुपंचकं चेति ॥ अणुं ॥ अणुपरिमाणम् ॥ एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ॥ इत्यादि श्रुतेः ॥ ज्ञातृत्ववंतम् ज्ञातृत्वादि गुणवंतम् ॥ अनन्तम् असंख्यं जीवमाहुः विदुः आत्माभिप्रायेणैकवचनम् ॥ यदित्यव्ययम्। हेतौ इदं च स्वाभाविकं स्वरूपं निरूपितम्। ननु ब्रह्मणः प्रतिबिम्ब एव जीवः तथा च सूत्रम्

---

१. श्रीगोपालकुष्त्माय। २. रूहं द्वयम्।
३. तत्वसारप्रकासिनी। ४. वीक्ष।
५. पदार्थ्य। ६. त्रायं।
७. भान्तमनुतीति ८. तिष्टन्।
९. तु। १०. कर्मेंद्रय।

द्रष्टव्य—लिपिकार ने प्राचीन लेखन पद्धति का अनुसरण करते हुए 'ण' के लिए 'रा' का प्रयोग किया है जिसके फलस्बरूप 'कृष्णाय' शब्द स्पष्ट रूप से अध्ययन में नहीं आता अपितु 'कुष्त्माय' ऐसा रूप पढ़ने में आता है। टीका में सर्वत्र इसी रूप वाले शब्द का प्रयोग हुआ है।

उपमासूर्य्यकादिवत्[1] इति[2] ॥ इति चेन्न ॥ उपाध्यानंतर्गतस्यैव वृक्षादे:[3] प्रतिबिम्बदर्शनात् ॥ ब्रह्मणोऽ[4]विद्यावहिस्थत्वे सदेशत्वापत्तेः ॥ ननु तर्ह्य ब्रह्मण: एकदेशीयत्वात्[5] विद्याद्यवछिन्न ईश्वर: ॥ अन्त:करणाद्यवछिन्नो जीव इति चेन्न। उपाधिनैकदेशावरणे सदेशत्वापत्ते कृत्स्ननस्यावरणे[6] ॥ श्रुतिविरुद्धानीश्वरवादापत्तेः जगदांध्यापत्ते:[7] ॥ जीवानां[8] भोगसांकर्य्यापत्ते-श्चेत्यलं विस्तरेण ॥१॥

श्रीगोपालकृष्ण[9] को नमस्कार है। श्रीमदनगोपाल के चरण-कमल रूपी पादद्वय में प्रणाम करके 'तत्वसारप्रकाशिनी' नामक व्याख्या करता हूँ। इस संसार में समस्त मानव जाति के कल्याणार्थ सुदर्शन के अवतार श्री निम्बार्क भगवान् ने मन्द बुद्धि वालों के लिए आत्मा, अनात्मा तथा परमात्मा से सम्बन्धित दशश्लोकी की भी[10] रचना साधन की दृष्टि से की है[11]। श्रीगोपालकृष्ण के चरण-कमलों का आश्रय लेने वाले सज्जनों को पहले पदार्थत्रय को जानना चाहिए। पदार्थों की संख्या तीन है—(१) आत्मा (२) अनात्मा (३) परमात्मा। अतः प्राप्तया जीवात्मा का, हेयत्वेन अनात्मा का और प्राप्यत्वेन परमात्मा का निरूपण हुआ है।

इसमें (दशश्लोकी) आरम्भ के दो श्लोकों में जीव का स्वरूप, जीवों के परस्पर भेद आदि का निरूपण 'ज्ञानस्वरूपम्' आदि द्वारा हुआ है। 'ज्ञानस्वरूपम्' इस पद से जीव के 'जडत्व' की व्यावृत्ति की गई है। जैसा कि श्रुतियों में भी कहा गया है—

---

१. सूर्यकादिव। २. इति।
३. वृहदादे:। ४. ब्रह्मणोविद्या।
५. एकदेशीत्वात्। ६. कृत्ननस्यावरणे।
७. जगदांधापत्तेः। ८. जीवानो।
९. ग्रन्थ के प्रारम्भ में किये गये नमनादि शुभ कार्यों से यह ज्ञात होता है कि आचार्य नन्ददास श्रीकृष्ण के गोपाल स्वरूप के उपासक हैं।
१०. 'भी' पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि निम्बार्काचार्य ने तो इससे पूर्व वेदान्त पर 'पारिजातसौरभ' की रचना की थी।
११. निम्बार्काचार्यकृत 'वेदान्तकामधेनु' (दशश्लोकी)

"योयं विज्ञानघन: अत्रायं पुरुष: स्वयं ज्योतिरित्यादि" और श्लोक में प्रयुक्त 'च' शब्द से ज्ञान का आश्रय होते हुए ज्ञानरूपता आत्मा का लक्षण है, ऐसा फलित होता है[1]।

'हरेरधीनम्' से तात्पर्य है कि जीव ईश्वरकृपाजन्य ज्ञान, क्रियाशक्ति वाला है जैसाकि श्रुति में कहा गया है—

'तमेवभान्तमनुभातीति श्रुतेः'।[2]

तथा

"य आत्मनितिष्ठन्नात्मानमंतरोयम् प्रतीत्यादि श्रुतेश्च"।[3]

'शरीरसंयोगवियोगयोग्यम्' अपने अपने कर्मों के अनुसार जीव भिन्न-भिन्न शरीरों—देव, मनुष्य, तिर्यक तथा स्थावर को प्राप्त करते हैं और उनको छोड़ते हैं। इस प्रकार शरीर त्रिगुणात्मक प्रकृति के परिणाम रूप पंचमहाभूतों का समुदाय होता है। लिङ्ग शरीर १७ अवयवों वाला होता है—पांच ज्ञानेन्द्रियां, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच वायु और सोलहवाँ मन तथा सत्रहवाँ बुद्धि।

---

१. तत्वसारप्रकाशिनी टीका—पत्राङ्क-१ वर्सो
(क) यहाँ 'जडत्व से तात्पर्य अज्ञान से है। जीव का ज्ञानवान् होना अथवा आत्मिक ज्ञान की प्राप्ति भी ईश्वर के आधीन है। जब तक ईश्वर अथवा परब्रह्म की उस जीव पर दया नहीं होती तब तक वह माया के आवरण से आवृत हुआ अज्ञानी ही रहता है।

२. तत्वसारप्रकाशिनी पत्राङ्क-१ वर्सो
३. तत्वसारप्रकाशिनी पत्राङ्क-१ वर्सो
४. आचार्य नन्ददास गीता के पुनर्जन्मवाद में विश्वास रखते हैं—
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा,
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥
गी० अध्याय २, श्लोक २२

'अणुम्' टीकाकार एवं ग्रंथकार के मत में आत्मा अणु परिमाण वाला है—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः इत्यादि श्रुतियाँ भी इसी का प्रतिपादन करती हैं।

'ज्ञातृत्ववन्तम्' से तात्पर्य है कि ज्ञातृत्वादिगुणवन्तम्—ज्ञानस्वरूप जीवात्मा ज्ञानवान् भी है। जीव अनन्त हैं। यहाँ पर जाति (जीव) के अभिप्राय से ही एक वचन का प्रयोग किया है। 'यत्' पद अव्यय है जो 'हेतु' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार यह जीव का स्वाभाविक स्वरूप का विवेचन निरूपित हुआ। यहाँ पर शङ्का होती है कि जीव ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। इसमें 'उपमा सूर्यकादिवत्' यह ब्रह्मसूत्र प्रमाण है। इस शङ्का का उत्तर दिया जाता है कि ऐसा नहीं है; क्योंकि उपाधि के बाहर रहने वाले वृक्षादि का ही प्रतिबिम्ब देखा जाता है।

अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म को उपाधि (अविद्या) के अन्तर्गत मानें या बाहर माने ? अगर बाहर मानेंगे तो सदेशत्वापत्ति आयेगी और अंदर मानेंगे तो ब्रह्म का प्रतिबिम्ब ही नहीं पड़ सकता। अच्छा प्रतिबिम्ब नहीं बनता है तो हम विद्याअवच्छिन्न को ईश्वर कहते हैं और अन्तःकरण अवच्छिन्न को जीव कहते हैं। टीकाकार इस कथन का खण्डन करते हैं कि अवच्छेदवाद भी नहीं बन सकता। क्योंकि उपाधि अगर ब्रह्म के एक देश का आवरण करती है तो वही सदेशत्वापत्ति वाला दोष ज्यों की त्यों रहा और समग्र ब्रह्म का आवरण करती है तो वेद विरुद्ध निरीश्वरवाद आ जायेगा और सर्वत्र अंधकार छा जायेगा तथा जीवों का परस्पर भोग-सांकर्य हो जायेगा।
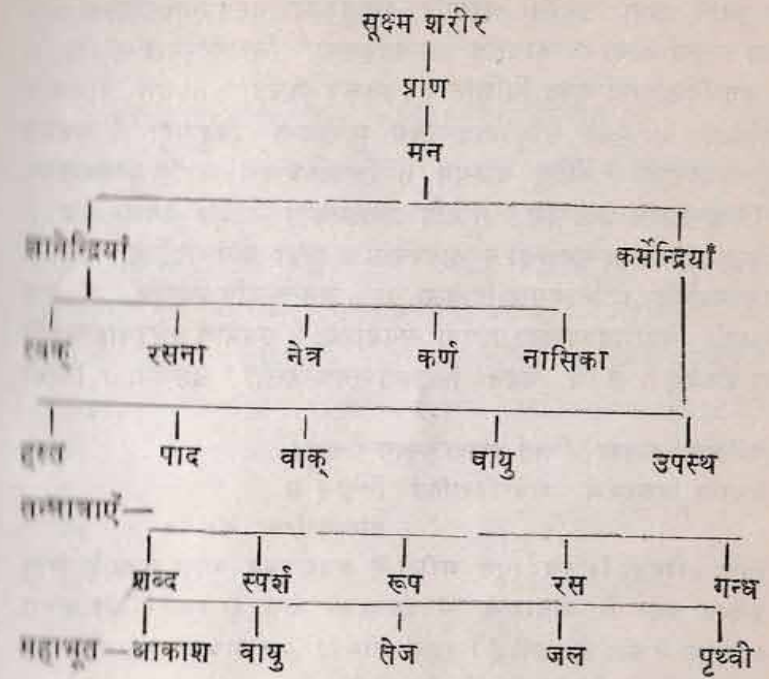
१. १७ अवयवों वाला सूक्ष्म शरीर होता है।

२. तन्मात्रा—तामस अहंकार और भूतों के मध्य होने वाले परिणाम स्वरूप द्रव्य को तन्मात्रा कहते हैं।

३. यह सूक्ष्म शरीर मोक्ष के पूर्वकाल तक ही बना रहता है। मोक्ष के समय भगवत-साक्षात्कार से ही इसकी निवृत्ति होती है।

४. प्राण—शरीर धारणादि का कारण स्वरूप वायु-विशेष को प्राण कहते हैं। यही वायु शरीर के विशेष स्थानों पर पहुंचने से प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान इन पाँच नामों से कही जाती है।

५. सांख्यदर्शन में सूक्ष्मशरीर का निर्माण १८ तत्वों से माना है तथा इसकी निम्नलिखित विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है—

ऋतेऽर्थं[७] यत्प्रतीयेत[८] न प्रतीयेत चात्मनि तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः ॥ इत्यादि स्मृत्युक्तयाऽघटघटनापटीयस्या यया मायया स्वरूपं जीवो न जानाति भगवतकृपया[९] निवर्त्ततेत्याह ॥ अनादि इति अनादिमायापरियुक्तं विशिष्टं रूपं स्वरूपं यस्यतं[१०] ॥ एनं जीवजातं हरिप्रसादात् ॥ मुक्तं सायुज्याद्यन्यतमं मुक्तिवन्तं विदुराहुः ॥ अथापि बद्धमुक्तप्रभेदबाहुल्यं जीवेषु बोध्यम् ॥ किलावधारणे यद्यपि मुक्तवाद्वयोः मध्ये[११] मुक्तस्यैव प्रधान्यम् ॥ तथापि प्रत्यक्षत्वात् बद्धस्य प्रथममुपदेशः ॥ तत्र बद्धाद्विविधाः ॥ मुमुक्षुवो बुभुक्षवश्चेति ॥ मुक्ता अपि द्विविधाः नित्यमुक्तामुक्ताश्चेति । नित्यमुक्ताद्विविधा ॥ अनन्तर्य्यापार्षदाश्च ॥ तत्र आनंतर्य्याः विषाणवंश्यादयः पार्षदाः सनंदादयः ॥ एवमन्य प्रभेदबाहुल्यमपि जीवेषु बोध्यम् ॥ ते च भेदाः सिद्धान्तरत्नाञ्जलौ[१२] द्रष्टव्याः ॥ नित्यो

पूर्वोत्पन्नं असक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरूपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥
सांख्यकारिका, सं० ४०

६. लिङ्ग शरीर ही विभिन्न स्थूल शरीरों में गमनागमन करता रहता है किन्तु भगवत दर्शन से मोक्षावस्था में इसका भी नाश हो जाता है और आत्मा परमात्मा में लीन हो जाती है। स्थूल शरीर तो बार-बार बनता है और बार-बार बिगड़ता है जैसाकि गीता में भी कहा है—
"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्ममृतस्य च
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि"
—गीता अध्याय-२, श्लोक २७

७. ऋतेऽर्थम्
८. प्रतीयेत्त
९. भगवतकृपाया
१०. यस्य
(क) श्लोक दो में लिपिकार ने 'बद्धम्' के स्थान पर 'भक्तम्' क्षब्द का उल्लेख किया है।
११. द्वयोर्म्मध्ये
१२. सिद्धान्तरत्नाजलौ

नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको[१] बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ[२] ॥ क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि[३] दृष्टः ॥

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः[४] संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः[५] सकारणं करणाधिपाधिपः[६] ॥ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभि चाकसीति[७] यः आत्मनि तिष्ठन्[८] प्राज्ञेनात्मनासंपरिष्वक्तो[९] न बाह्यं किंचन ॥ वेदनानंतरं प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ उत्सृजन्याति[१०] तमेव विदित्वा[११] मृत्युमेति इत्यादि भेदश्रवणात् ॥ जीवस्य भेद एव स्वभाविको धर्मः ॥ स तत्र पर्येति[१२] जक्षन् ॥ क्रीडन् ॥ रममाणः॥ सोऽश्नुते[१३] सर्वान्कामान् [१४]सहब्रह्मणविपश्चितेति[१५] ॥ यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णः कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूयनिरंजनः ॥ परमंसाम्यमुपैति[१६] इत्यादि । श्रुतिभिमोक्षदशायामपि भेद

---

१. चेतनाम्
२. द्वावजावीशानीशानौशौ
३. संजोग
४. गुणेशः
५. बद्ध ।
६. कारण ।
७. चाकसीतयः ।
८. तिष्ठत् ।
९. आत्मनासपरिष्वक्तो ।
१०. उत्सृज्यन्याति ।
११. विदित्वा ।
१२. पर्येति ।
१३. सोऽश्नुते ।
१४. सब्रह्मण ।
१५. विपश्चितान् ।
१६. परमसाम्यमुपैति ।

नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको[1] बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ[2] ॥ क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपिदृष्टः[3] ॥ प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः[4] संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः[5] सकारणं करणाधिपधिपः[6]॥ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योभिः चाकसीति[7] । यः आत्मनि तिष्ठन्[8] प्राज्ञेरात्मनासंपरिष्वक्तो[9] न बाह्यं किंचन ॥ वेद,नानंतरं प्राज्ञेनात्मनान्वारूढ़ उत्सृजन्[10]याति तमेव विदित्वा[11] मृत्युमेति इत्यादि भेदश्रवणात् ॥ जीवस्य भेद एव स्वाभाविको धर्मः ॥ स तत्र पर्येति[12] जक्षन् ॥ क्रीडन् ॥ रममाणः ॥ सोऽश्नुते[13] सर्वान्कामान्[14] सहब्रह्मणविपश्चितेति[15]॥ यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णः कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूयनिरंजनः ॥ परमंसाम्यमुपैति[16] इत्यादि । श्रुतिभिमोक्षदशायामपि भेद स्वाभाव[17]श्रवणाच्च भेदःस्वाभाविकः इति ज्ञायते ।

---

१. चेतनाम्
२. द्वावजाधीशानीशानौशौ
३. संजोग
४. गुणैशः
५. बद्ध
६. कारण
७. चाकसीतयः
८. तिष्टन्
९. आत्मनाशपरिष्वक्तो
१०. उत्सृज्यन्याति ।
११. विदित्त्वा
१२. पथेऽति
१३. सोऽश्रुते
१४. सब्रह्मण
१५. विपश्चितान्
१६. परमशाम्यमुपैति
१७. स्वाभाद

ननु तत्त्वमसि[1] नान्योतोस्तिद्रष्टा अयमात्मा ब्रह्मेत्याश्रुतिभिः ॥ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः इत्यादि स्मृतिभिश्चाभेदः[2] । प्रतीयते इति चेन्न ॥ ज्ञाज्ञौ द्वौसुपर्णौ सयुजा इत्येवमादि श्रुतिशतैरात्मा भेदप्रतिषेधात् । तत्त्वमसि इति त्वं पदेन जीवान्तर्य्यामिणः परमात्मन एव अभिधानात् ॥ यद्वा तच्छब्दाग्रे षष्ठ्यादिविभक्तीनां[3] सुपांसुलुगिन्यादिना । प्रथम एकवचनादेशः ॥ एतदात्म्यमिदं[4] सर्वं सदायतनाः ॥ सत्प्रतिष्ठा इति श्रुत्यनुसारात्[5] ॥ ननु ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति ॥ यत्रत्वस्य सर्वस्मै वाभूत ॥

तत्केन कं पश्येदिति मोक्षदशायां[6] भेदानिषेधादभेदः ॥ स्वाभाविक इति चेन्न । जीवस्य आविर्भूतबृहद्गुणकत्वेन ब्रह्माभेदोपपत्ते[7] ॥ क्रीडन्भुञ्जन्यायात् ॥ द्वे ब्रह्मणो,[8]वेदितव्ये इति श्रुतेः ॥ यत्र त्वस्येति[9] श्रुतिः ॥ सुषुप्तिपरा तस्माद्भेद एव स्वाभाविकः ॥ अभेदस्तु चित्वादिकृतः ॥ अतएव जीवो ब्रह्मांशत्वेन भिन्नाभिन्न इति वदन्ति । अन्ये तु कारणात्मना जात्यात्मनाभेदः कार्य्यात्मिना व्यक्त्यात्मना[10] च भेदः । इति भेदाभेदयो विरोधाभावात् । सर्वमपि भिन्नाभिन्नं प्रतीयत्ते इति वदन्ति तच्चिन्त्यम् ।२।

---

१. तत्त्वमसि
२. स्मृतिश्चाभेदः
३. षष्ठादिभक्तिनाम्
४. एतदात्ममिदम्
५. श्रुत्यनुसामारात्
६. मोक्षदशायो
७. ब्रह्माभेदोपत्ते
८. ब्राह्मणी
९. तस्येति
१०. व्यक्त्याना

तालिका
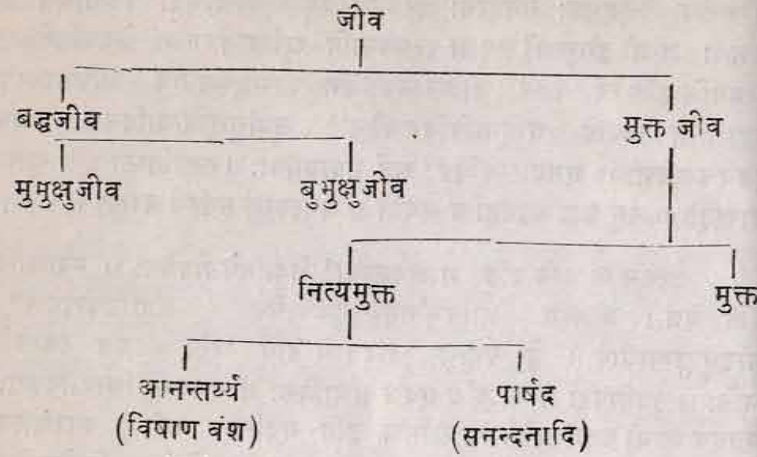
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेते न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथा भासो यथा तमः॥

इत्यादि स्मृति की उक्ति से अघटित घटना को घटाने वाली माया के द्वारा आवृत जीव अपने स्वरूप को नहीं जान पाता है, यह सिद्ध होता है। अनादिमाया से युक्त स्वरूप वाले जीव समूह को मुक्त सायुज्यादि प्राप्त कहा जाता है।

अब जीवों के बद्ध-मुक्त-प्रभेद बाहुल्य को भी जान लेना चाहिए। निश्चय ही बद्ध तथा मुक्त दोनों जोवों में मुक्त जीव की ही प्रधानता है तथापि प्रत्यक्ष होने के कारण पहले बद्ध जीव का ही उपदेश है। बद्ध जोव दो प्रकार के हैं—१—मुमुक्षु जीव २—बुभुक्षु जीव। मुक्तजीव भी दो प्रकार के होते हैं—१—नित्यमुक्त २—मुक्त। नित्यमुक्त भी दो प्रकार के होते है—१—आनन्तर्य्य, २—पार्षद। उनमें विषाणवंश आदि आनन्तर्य्यकोटि में आते हैं तथा सनन्दनादि[1] पार्षद की श्रेणी में हैं। इसी प्रकार अन्य भेद बाहुल्य भी

१. सनक, सनन्दन, सनातन तथा सनत्कुमार ये ब्रह्मा के मानस पुत्र है—
'पुत्रा हिरण्यगर्भस्य मानसा सनकादयः'।
—भागवत, एकादशस्कन्ध, १३ अ०, श्लोक १६

जीवों में जानना चाहिए। ये भेद सिद्धान्तरत्नाञ्जलि में द्रष्टव्य हैं[1]।

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान् ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि-दृष्टः। प्रधानक्षेत्रज्ञपतिगुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः स कारणं करणाधिपाधिपः। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योभिः चाकसीति। यः आत्मनि तिष्ठन् प्राज्ञेनात्मना संपरिवक्तो न बाह्यं किंचन वेद न, अनन्तरं प्राज्ञेनात्मनान्वरूढ़ उत्सृजन् याति तमेव विदित्वाति मृत्युमेतित्यादि भेद-श्रवणाच्च"

इत्यादि उद्धृत वाक्यांशों से भेद ही सिद्ध होता है, अतः मोक्ष दशा में भी जीव का भेद स्वाभाविक धर्म है। इसी कथन को अन्य उद्धरणों द्वारा प्रतिपादित करते हैं—वह जाता हुआ, खाता हुआ, खेलता हुआ तथा रमण करता हुआ—

"सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सहब्रह्मणविपाश्चितेति। यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णः कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूयनिरंजनः परमं साम्यमुपैति इत्यादि श्रुतिभिः"।

मोक्षदशा में भेद स्वभाव श्रवण होने से जीव का भेद स्वाभाविक ही है, ऐसा श्रुतियां कहती हैं।

यह शङ्का होती है 'तत्वमसि' यह वेदवाक्य तो जीव का ब्रह्म से अभिन्न बतलाता है और 'नान्यतोऽस्ति द्रष्टा' वाक्य में जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है और गीता में भी श्रीकृष्ण ने जीव को अपना अंश बतलाया है, तो फिर आप जीव को ब्रह्म से भिन्न कैसे सिद्ध करते है?............देखो श्रुतियाँ ही जीव को ब्रह्म से भिन्न बतलाती हैं। ज्ञाज्ञौ इत्यादि सैकड़ों श्रुतियाँ ब्रह्म और जीव के अभेद का निषेध करती हैं।

१. तत्वसारप्रकाशिनी टीका—पृ०२ रे०

'तत्वमसि' इस श्रुति में 'तत्' पद जीव के अन्तर्यामी परमात्मा का बोधक है अथवा 'तत्' पद षष्ठी विभक्त्यन्त है। उसका अर्थ होता है कि उस परमात्मा का तू है। परमात्मा को जीव का आधार माना है। आधार और आधेय में भेद स्वाभाविक है। अब प्रश्न उठता है कि ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है इत्यादि श्रुतियों के अनुसार द्रष्टा, दृश्य और करण (इन्द्रियाँ) सब कुछ मोक्ष दशा में ब्रह्म हो जाता है। इन श्रुतियों की उपपत्ति (सङ्गत) कैसे लगेगी ? इसका उत्तर देते हैं कि जीव में मोक्षावस्था में ब्रह्म के आठ महागुण आविर्भूत हो जाते हैं, इसलिए जीव भी ब्रह्म के समान हो जाता है यथा—कोड़ा भ्रङ्गी बन जाता है।

'द्वे ब्रह्मणि वेदितव्ये' ये श्रुति जीव को भी ब्रह्म बतलाती है और "यत्र तु अस्य सर्वस्मै वाभूत" यह श्रुति सुषुप्तिदशा को बतलाती है, क्योंकि सुषुप्तिदशा में इन्द्रियाँ अन्तःकरण में लीन हो जाती हैं और बाहरी दृश्य-विषय सुषुप्ति अवस्था में दिखाई नहीं देते। इसीलिए कहा है कि—'केन कं पश्येत्'। अतः भेद-अभेद स्वाभाविक ही है। स्वरूपेण जीव ब्रह्म से भिन्न है और पररूपेण ब्रह्म से अभिन्न है और ब्रह्म का अंश होने से अंशाशी है, अतः दोनों में भेदाभेद सम्बन्ध माना गया है।

अचेतनं निरूपयति। अप्राकृतमित्यादिना यद्यपि चेतनाचेतनयो: चेतनस्यैवज्ञा[1] तत्रापि परमचेतनस्य परमात्मन प्राधान्यम्[2]। अतएव[3] परमात्मन: प्रथमं निरूपणं युक्तम्। तथा जीवात्मनोऽहमर्थतया भासमानत्वेन सर्वजनप्रत्यक्षत्वात्। प्रथमं जीवो निरूपित:। ततश्च घटपटादिरूपेण सर्वज्ञानविषयत्वादनात्मनो निरूपणम्। परमात्मनश्च परमकाष्ठात्वेनो-परिष्टादित्यस्ति[4] संगति:। समीचीना श्रुतिश्च। इन्द्रियेभ्यो पराह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मन:। मनसस्तु पराबुद्धि: बुद्धेरात्मामहान्पर:। महत: परं अव्यक्तं व्यक्तात् पुरुष: पर: पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा[5] सा परा[6] गति:। गम्यते इति गति: परमात्मा। अचेतनं परं[7] त्रिविधं मतम् सम्मतमाचार्य्या-णामिति शेष:। प्राकृतं अप्राकृतं कालश्चेति गुणत्रयाश्रयं द्रव्यं। प्रकृतिस्तयाजातं प्राकृतं। ब्रह्माण्डं तदंतर्वर्ति जरायुजादि तु[8] चतुर्विधशरीरं समष्टिव्यष्टिरूपं[9]। अन्नपानादिकं चेति। एवं पंचापिकोशा:। तत्र अन्नमय: स्थूलदेहादि प्राणमय: प्राणेन्द्रियादि। मनोमय: संकल्पविकल्पवृत्ति विशिष्टं मन:। विज्ञानमयोऽध्यवसायादिरूपवृत्तिविशिष्टा बुद्धि:। आनन्दमय: सम्प्र-ज्ञातसमाधिस्थमपि[10] सुखैकवृत्युपेतं चित्तम् इति विवेक:।

शुद्धसत्त्वं अप्राकृतं द्रव्यं। वैकुण्ठगतप्रासादमंडपगोपुरचत्वरवृक्षादिरूपं। कालश्च क्षणादिपरार्द्धपर्य्यन्त:। अथ ह वावनित्यानादिपुरुष:[11]। प्रकृतिरात्मा

---

१. चेतनस्यैवद्या
२. प्राधान्यम् (अध्याहार)।
३. एव अत:
४. परमाकाष्टात्वेन
५. काष्टा
६. सा गति:
७. परम्
८. त
९. समव्यष्टिरूपम्
१०. समाधिस्थापि
११. नित्यानि पुरष:

काल इत्यादि श्रुतौ। प्रकृतिपुरुषाभ्यां कालस्य विभागोक्तेः युक्तमेवोक्त-विभागः । तत् अचेतनम् । मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यं । आदिपदेन अविद्यादिपदानां[१] ग्रहणम् । गुणसाम्यावस्था[२] प्रधानम् । ततो महत्तत्वं ततोऽहंकार। स त्रिविधः सात्विकादिभेदात्। सात्विकान्मनोदेवाश्चराजसा-दिन्द्रियाणि तामसाद्भूतानि तन्मात्राश्चेति सृष्टिक्रमः। व्युत्क्रमेण लयश्च। शुक्लादिभेदाः सत्वगुणरजोगुणतमोगुणाः। समेपि सर्वेपि तत्र मायादिपदवाच्ये वस्तुनि सत्वरजस्तमोमये मायेत्यर्थः। इयमेव माया स्वस्वकर्मवशीभूतानां जीवानां भगवत्स्वरूपतिरोधानं करोति। इयं माया त्रिगुणात्मिका समष्टि-रूपाएकैव यथा वनराश्यादिव्यवहारः[३]।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णामित्यादि[४] श्रुतेः। व्यष्टिरूपा त्वेनका यथा वृक्षधान्यादिव्यवहारः। अविद्यायाः द्वेशक्ती[५] आवरणविक्षेपौ। तत्रा-वरणशक्त्या वृत्तस्य जीवस्य स्वर्गनरकादि व्यवहारो जायते विक्षेपशक्ति-विशिष्टस्य जीवन्मुक्तस्य संसारो न जायते। भिक्षाऽनादिप्रवृत्ति विना जीवन्मुक्तिस्तु । अविद्यानिवृत्तावपिचक्रभ्रमिवत्प्रारब्धकर्मभोगाय देहा-वस्थानम्। नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि इति श्रुतेः। केचित् आवरणविक्षेपशक्तिमत्या[६] मूलाविद्यायाः । प्रारब्धकर्मवर्तमानदेहाद्यनुवृत्ति प्रयोजको विक्षेपशक्त्यंश इति वदन्ति। अपरे तु ईश्वरकौटौ सगुण संकर एव विक्षेपशक्तिविशिष्टः न तु निर्गुणः। प्रमाणं चात्र कमलासनात्। प्रतिसर्गं जन्मोक्तिः विष्णोः तु अवतारेषु आविर्भाव एव न जन्मगर्भप्रवेशमात्रे जन्मोक्तेः। उत्तरापुत्ररक्षत्वमपि[७] स्यात् भगवतीत्याहुः[८]।३।

---

१. पदाणाम्

२, साम्यावस्था

३. वनरास्थादि

४. कृष्माम्

५. द्वेशक्तिः

६. आवर्णा

७. उत्तरापुत्रत्वमपि

८. भगवतित्याहु

अप्राकतं इत्यादि श्लोक द्वारा अचेतन का निरूपण करते हैं। यद्यपि चेतन परमात्मा स्वरूप होने से प्रथम उसका निरूपण करना ही उचित था तथापि 'अहम्' की अनुभूति सर्वजन के प्रत्यक्ष होने से जीवात्मा के अस्तित्व की सिद्धि हो जाती है अतः पहले जीव-विषयक निरूपण किया है। यह घट है, यह पट है इत्यादि ज्ञान का विषय आत्मा ही है, अतः इस सन्दर्भ में अनात्मा का भी निरूपण हुआ है। परमात्मा सर्वोच्च होने से उसका निरूपण आगे किया जायेगा। श्रुतियाँ कहती हैं कि इन्द्रियों से सूक्ष्म विषय हैं, विषयों से उत्कृष्ट मन है, मन से उत्कृष्ट बुद्धि है, तथा बुद्धि से उत्कृष्ट आत्मा (जीवात्मा) है एवं आत्मा (चित्) से उत्कृष्ट 'महत्' तत्व है। महत् तत्व से उत्कृष्ट अव्यक्त (प्रकृति) है उस पुरुष से ऊपर और कुछ नहीं है, वही परम गति है।

आचार्यों ने अचेतन तीन प्रकार का माना है—१—प्राकृत २—अप्राकृत तथा ३—काल। प्राकृत त्रिगुणात्मक है। प्रकृति द्वारा उत्पन्न होने के कारण यह प्राकृत कहलाता है और समस्त ब्रह्माण्ड इस प्राकृत के अन्तर्गत आता है। ब्रह्माण्ड में स्थिति समष्टि-व्यष्टि रूप शरीर चार प्रकार का है—१—जरायुज, २—अण्डज, ३—स्वेदज, ४—उद्भिज[१]। इसी प्रकार पंचकोश भी होते हैं—१. अन्न के विकार से निर्मित होने के कारण स्थूलदेह को 'अन्नमयकोश' कहते है। २. कर्मेन्द्रियों के सहित पंचप्राण को 'प्राणमय कोश' कहते हैं। ३. संकल्प-विकल्प करने वाली वृत्ति विशेष को 'मनोमयकोश' कहते हैं। ४. अध्यवसाय आदि रूपवृत्तिविशिष्ट बुद्धि को 'विज्ञानमयकोश' कहते हैं। ५. सम्प्रज्ञात समाधि में सुखाकारावृत्ति से युक्त चित् को ही 'आनन्दमयकोश कहते हैं, ऐसा इनका विभेद है।

अप्राकृत नामक जो द्रव्य है वह केवल शुद्ध सत्वप्रधान है।

---

१. (क) जरायुज—मनुष्य, पशु आदि

(ख) अण्डज—पक्षी, सर्प आदि।

(ग) स्वेदज—जूँआ, खटमल

(घ) उद्भिज—लता, वृक्षादि

जो बैकुण्ठ के प्रासाद मण्डप, गोपुर-चत्वर, वृक्षादि रूप में स्थित है। क्षण से लेकर परार्द्ध पर्यन्त का बोध कराने वाला काल है। जैसा कि श्रुतियों में भी कहा गया है—

'अथ ह वावनित्यानादिपुरुषः। प्रकृतिरात्मा काल इत्यादि श्रुतौ"

[1]काल नित्य है। वह प्रकृति और पुरुष से भिन्न है और यह विभाग सर्वथा उचित है। यहां तक कि अचेतन कि व्याख्या हुई।

---

१. यही काल भूत, भविष्य, वर्तमान, युगपत् चिर, क्षिप्र आदि व्यवहारों का तथा परमाणु से परार्द्ध पर्यन्त व्यवहार का असाधारण कारण है। सम्पूर्ण प्राकृत इसी काल के आधीन है किन्तु यह काल भी पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के आधीन है जैसा कि श्रुतियों में भी कहा गया है—
"स कालकालो गुणि सर्ववेद्यः"। यह काल स्वरूप से नित्य तथा कार्यरूप से अनित्य है।

तालिका सृष्टिक्रम
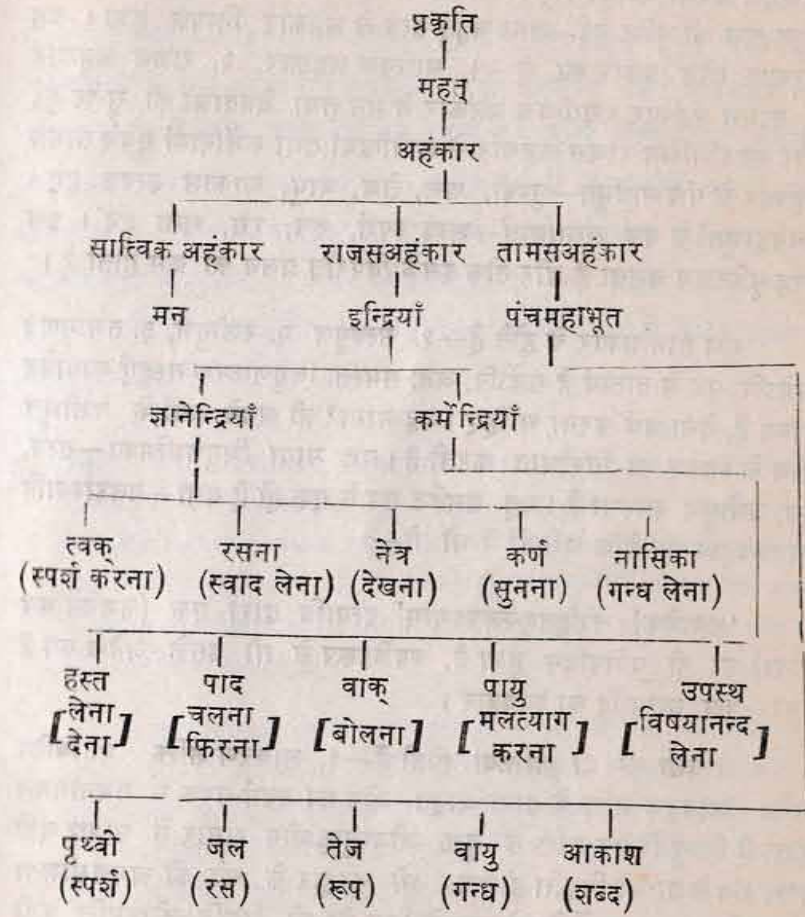
प्रलय का क्रम सृष्टिक्रम के विपरीत होता है।

'मायाप्रधानादिपदप्रवाच्यम्' पद में आदि पद से अविद्या आदि पदों का ग्रहण करना चाहिए। गुणों की साम्यावस्था का नाम 'प्रधान' है। उससे महत् तत्व की सृष्टि हुई—तथा महत् तत्व से अहंकार निष्पन्न हुआ। यह अहंकार तीन प्रकार का है—१. सात्विक अहंकार, २. राजस अहंकार ३. तामस अहंकार। सात्विक अहंकार से मन तथा देवताओं की सृष्टि हुई और सत्त्वमिश्रित राजस अहंकार से ज्ञानेन्द्रियां तथा कर्मेन्द्रियां एवम् तामस अहंकार से पंच महाभूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश उत्पन्न हुए। पंचमहाभूतों से पंच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध हुईं। इस तरह सृष्टिक्रम चलता है और ठीक इसके विपरीत प्रलय का क्रम होता है।

गुण तीन प्रकार के होते हैं—१. सत्वगुण २. रजोगुण, ३. तमोगुण। 'समेऽपि पद से तात्पर्य है सर्वेऽपि, अतः समस्त त्रिगुणात्मक वस्तुएँ मायापद वाच्य हैं, ऐसा अर्थ करना चाहिए। यह माया[1] ही अपने कर्मों के वशीभूत जीव के स्वरूप का तिरोधान करती है। यह माया त्रिगुणात्मिका—सत्व, रज, तमोगुण स्वरूपा है। यह समष्टि रूप से एक ही है यथा—वनराश्यादि का व्यवहार। क्योंकि श्रुतियों में भी तो—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादि द्वारा एक (समष्टि रूप माया) का ही प्रतिपादन हुआ है, व्यष्टिरूप से तो इसके अनेक रूप हैं यथा—वृक्ष, धान्यादि का व्यवहार।

अविद्या की दो शक्तियां होती हैं—१. आवरण शक्ति, २. विक्षेप शक्ति। आवरण शक्ति के द्वारा आवृत जीव का स्वर्ग-नरक में गमनागमन होता है किन्तु विक्षेप शक्ति से युक्त जीवन्मुक्त जीव संसार में उत्पन्न नहीं होता। अविद्या की निवृत्ति होने पर भी कुम्हार के चक्र की भ्रमणशीलता की भाँति प्रारब्ध कर्मों के भोगभर के लिए देह की स्थिति जीवन्मुक्ति कही जाती है। क्योंकि—

"नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि"।

---

१. माया- मा+य+टाप्

श्रुति में भी इसी कथन की पुष्टि की गई है।

कोई-कोई विचारक तो कहते हैं कि आवरण और विक्षेपशक्ति वाली मूल अविद्या का प्रारब्ध कर्म से वर्तमान देहादिपर्यन्त अनुवृत्ति का प्रयोजक विक्षेपशक्ति का अंश रहता है। दूसरे विचारक कहते हैं कि ईश्वरकोटि में सगुण-साकार ही विक्षेप शक्ति विशिष्ट रहता है, निर्गुण नहीं। इस कथन का प्रमाण है—कमलासनात् (ब्रह्मा) से प्रत्येक सर्ग में जन्म होने का कथन भी प्रमाण है। विष्णु के अवतार में तो केवल आविर्भावमात्र ही जन्म है। गर्भप्रवेशमात्र ही कथन है। अगर गर्भप्रवेश को ही जन्म कहेंगे तो भगवान् भी उत्तरा के पुत्र कहलायेंगे। क्योंकि उन्होंने उत्तरा के गर्भ में स्थित बालक की ब्रह्मास्त्र से रक्षा की थी[1]।

---

१. उत्तरा ने कहा—'देवाधिदेव! जगदीश्वर! आप महायोगी हैं। आप मेरी रक्षा कीजिये। आपके अतिरिक्त इस लोक में मुझे अभय देने वाला और कोई नहीं है; क्योंकि यहाँ सभी परस्पर एक दूसरे की मृत्यु के निमित्त बन रहे हैं। प्रभो। आप सर्वशक्तिमान् हैं। यह दहकता हुआ लोहे का बाण मेरी ओर दौड़ता हुआ आ रहा है। स्वामिन् यह मुझे भले ही जला डाले, परन्तु मेरे गर्भ को नष्ट न करे—ऐसी कृपा कीजिए।

भगवान् श्रीकृष्ण उसकी बात सुनते ही जान गये कि अश्वत्थामा ने पाण्डवों के वंश को निर्बीज करने के लिए ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया है। उन्होंने उत्तरा के गर्भ को पाण्डवों की वंशपरम्परा चलाने के लिए अपनी माया के कवच से ढक दिया। यद्यपि ब्रह्मास्त्र अमोघ है और उसके निवारण का भी कोई उपाय नहीं है तथापि वह भगवान् के तेज के सम्मुख आकर शान्त हो गया।

भा० प्रथम स्कन्ध, अ० ८, श्लोक ६-१५।

उत्तरा के गर्भ में स्थित वह वीर शिशु परीक्षित् जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जलने लगा, तब उसने देखा कि उसकी आँखों के सामने एक

ज्योतिर्मय पुरुष है। वह देखने में तो अँगूठे भर का है, परन्तु उसका स्वरूप बहुत ही निर्मल है। अत्यन्त सुन्दर श्याम शरीर है, बिजली सा चमकता हुआ पीताम्बर धारण किये हुए है, सिर पर सोने का मुकुट झिलमिला रहा है। उस निर्विकार पुरुष की बड़ी ही सुन्दर लम्बी-लम्बी चार भुजायें हैं। कानों में तपाये हुए स्वर्ण के सुन्दर कुण्डल हैं। आँखों में लालिमा है। हाथ में लू के समान जलती हुई गदा लेकर उसे बार-बार घुमाता जा रहा है। और स्वयं शिशु के चारों ओर घूम रहा है। जैसे सूर्य अपने तेज से कुहरे को नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार वह दिव्य पुरुष गदा के द्वारा ब्रह्मास्त्र के तेज को शान्त करता जा रहा था। उस पुरुष को अपने समीप देखकर वह गर्भस्थ शिशु सोचने लगा कि यह कौन है। इस प्रकार उस दस मास के गर्भस्थ शिशु के सामने ही धर्मरक्षक अप्रमेय भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मास्त्र के तेज को शान्त करके वहीं अन्तर्धान हो गये।

ततः सर्वगुणोदर्के सानुकूलग्रहोदये।
जज्ञे वंशधरः पाण्डोर्भूयः पाण्डुरिवौजसा ॥१२॥

तस्य प्रीतमना राजा विप्रैर्धौम्यकृपादिभिः।
जातकं करयामास वाचयित्वा च मङ्गलम् ॥१३॥

हिरण्यं गां महीं ग्रामान् हस्त्यश्वान्नृपतिर्वरान्।
प्रादात्स्वन्नं च विप्रेभ्यः प्रजातीर्थे स तीर्थवित् ॥१४॥

तमूचुर्ब्राह्मणास्तुष्टा राजानं प्रश्रयान्वितम्।
एष ह्यस्मिन् प्रजातन्तौ पुरुणां पौरवर्षभ ॥१५॥

भा०, प्र० स्क०, अ० १२, श्लोक ७-१५

जीवप्रकृती[१] निरूप्य ब्रह्मस्वरूपं आह— स्वभावेत्यादि वयं कृष्णं[२] ध्यायेम इत्यन्वयः। कीदृशं स्वभावतोपास्त समस्तदोषं स्वभावेनैव निरस्त-निखिलदोषगन्धं। य आत्मा अपहतपाप्मा इत्यादि श्रुते। अशेषकल्याणगुणैक-राशिम् अनन्तानवद्यकल्याणगुणैकपुंज[३] अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् विविक्षित-गुणोपपत्तेश्च। अनंतर्य्या[४]म्यधिदेवेषु[५] तद्धर्मव्यपदेशात्। अदृश्यत्वादिगुणक[६] धर्मोक्तेश्च इत्याद्यधिकरणेषु[७] अत्यादरेण गुणानंत्यप्रतिपादनात्। व्यूहाङ्गिनं वासुदेवप्रद्युम्नानिरुद्धसंकर्षणरूपो व्यूहः। समुदायः तस्य अङ्गी वासुदेवश्चतु:[८] करणं यस्य तमित्यर्थः। ब्रह्मव्यापकम्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। निष्कलं[९] निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्। यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं[१०] विजानताम्। आनन्दो ब्रह्म, इदं सर्वं[११] यदयमात्मा वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्। मृतिकेत्येव[१२] सत्यमित्यादि श्रुते।

अणुत्वमहत्वादिकमपि ब्रह्मण्यस्ति। अंकादिस्थस्य मुखे ब्रह्माण्डादिकं पश्यतां श्रीयशोदादिनां प्रत्यक्षमप्यणुत्वमहत्वयोः प्रमाणम्। परं

१. जीवप्रकृत्ति
२. कृष्त्मम्
३. गुणैकपुंजम्
४. अनंतार्य्या
५. देवापु
६. गुणको
७. इत्याधिधिकरणेषु
८. वासुदेवाश्चतुः
९. निष्फलम्
१०. अविज्ञातम्
११. सर्वे
१२. मृत्तिकेत्त्येव

लिपिकार ने श्लोक में 'कृष्णम् के स्थान पर 'कृष्त्मम्' तथा 'कमलेक्षणम्' के स्थान पर 'कलेक्षणम्' का उल्लेख किया है।

प्रकृति-पुरुषाभ्यां इति शेषः। द्वाविमौपुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर[1]एव च क्षरः[2] सर्वाणि भूतानिकूटस्थोऽक्षरः[3] उच्यते। उत्तमः[4] पुरुषः तु अन्यः परमात्मेत्युदाहृत[5]। यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्तव्यय ईश्वरः। यस्मात् क्षरमतीतोहम् क्षरादपि चोत्तमः। अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित.[6] पुरुषोत्तमः। यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्। स सर्वविद्भजति मां[7] सर्वभावेन भारत। इति गुह्यतमं शास्त्रं इदमुक्तं मयानघः एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यश्च भारतेति गीतासु[9]।

अव्यक्तमक्षरे लीयते क्षरं तमसि लीयते तमः परे देवे एकीभवतीति श्रुतेः। वरेण्यं सौन्दर्यसीमानं[10]। त्रैलोक्यसौभगमिदं सुनिरीक्ष्य[11] रूपं। यद्गोद्विजद्रुममृगाः[12] पुलकान्यबिभ्रन इति भागवतोक्तेः। कमलेक्षणम् प्रफुल्लपुंडरीकनयनम्। य एषोन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यकेशा हिरण्यमश्मश्रु। आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदितिनामुसर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति हवै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेदेति। हरिम् श्रवणमात्रेण सर्वपापहारिणम्। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्। स ब्रह्मणाविपश्चितेत्यादि श्रुतेः। अतिपापप्रसक्तोऽपि ध्यायेन्निमिषं अच्युतम् भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावन[13] पावनः इति पाराशरवचनाच्च[14]। ४।

---

१. क्षरचाक्षर
२. क्षर
३. भंकूटस्थो
४. उत्तमं
५. परमात्मोत्युदाहृत
६. प्रथितं
७. सां
८. एतद्बुध्यां
९. गीतापु
१०. सौन्दर्यम्
११. वनिरीक्ष
१२. यद्गौद्विज
१३. पंक्तिपान
१४. परासर

जीव तथा प्रकृति का निरूपण करके ब्रह्म[1] के स्वरूप को कहते हैं—'स्वभाव' इत्यादि श्लोक द्वारा श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं, यह अन्वय होता है। श्रीकृष्ण कैसे हैं ?—उनमें स्वाभाविक रूप से समस्त दोषों की गन्ध का अभाव है, क्योंकि श्रुतियों में भी 'य आत्मा अपहृत पाप्मा' द्वारा दोष-गन्ध रहित प्रतिपादित किया है।

'अशेषकल्याणगुणैकराशिम्' पद की व्याख्या 'अनन्तानवद्यकल्याणगुणैकपुंजम्' रूप में हुई है। ब्रह्म श्रीकृष्ण में अनन्त कल्याणकारी गुण[2] विद्यमान हैं। जैसा कि 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ………… इत्यादि अधिकरणेषु' इत्यादि ब्रह्मसूत्र के अधिकरणों में वेदव्यास जी ने वर्णन किया है।

'व्यूहाङ्गिनम्'—वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा संकर्षण रूप व्यूह के जो अङ्गी हैं (ऐसे श्रीकृष्ण का हम ध्यान करते हैं) ये चारों अवतार स्वरूप व्यूह उनका अङ्ग है तथा करण हैं, ऐसा अर्थ है।

ब्रह्म व्यापक है। अणु से अणु तथा व्यापक से व्यापक जो कुछ भी है, वह सब ब्रह्ममय है। विभिन्न श्रुतियों के उद्धरणों द्वारा इस कथन की पुष्टि करते हैं—

"सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म। निष्कलं, निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनं यस्यामतं तस्य मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातम् विजानताम्। आनन्दो ब्रह्म। इदं सर्वं यदयमात्मा वाचारम्भणं विकारोनामधेयम्। मृत्तिकेत्येव सत्यमित्यादि श्रुते।"

अणु से अणु तथा महत् से भी महत् सब कुछ ब्रह्ममय ही है। इस कथन के उदाहरण स्वरूप टीकाकार ने—यशोदा की गोद में बैठे हुए बाल-

---

१. ब्रह्म—बृंहति बृंहयति तस्मादुच्यते परं ब्रह्म। 'बृहि बृंहि वद्धौ' धातु से उणादिगण में 'मन्' प्रत्यय करने पर 'ब्रह्म' शब्द बनता है।
२. भगवान् श्रीकृष्ण में मुमुक्षुओं के लिए उपयोगी इन गुणों का समावेश है—ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, सौशील्य, वात्सल्य, आर्जव, सौहार्द, सर्वशरण्यत्व, कारुण्य, स्थैर्य धैर्य, माधुर्य, मार्दव आदि।

श्रीकृष्ण द्वारा अपने मुख में माता को समस्त ब्रह्माण्डों का दर्शन करा देना, दिया है[1]।

यह ब्रह्म प्रकृति पुरुष से विलक्षण है क्योंकि श्रुतियाँ भी ऐसा ही प्रतिपादन करती हैं।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृत।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्ययः ईश्वरः ॥
यस्मात्क्षरमतीतोहम् क्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥
इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघः।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमानस्यात्कृतकृत्यस्य च भारत ॥

—इति गीतासु

---

१. एक दिन बलराम आदि कृष्ण के साथ खेल रहे थे उन लोगों ने माँ यशोदा के पास आकार कहा—माँ ! कन्हैया ने मिट्टी खाई है। यशोदा ने कृष्ण का हाथ पकड़ लिया और फटकारती हुई बोलीं—क्यों रे नटखट ! तू बहुत ढीठ हो गया है। तूने अकेले में छिपकर मिट्टी क्यों खाई ? तेरे साथी तथा बड़े भाई बलराम भी यही कह रहे हैं। श्रीकृष्ण बोले – माँ ! मैंने मिट्टी नहीं खाई। ये सब झूठ बक रहे हैं। यदि तुम इन्हीं की बात सच मानती हो तो मेरा मुँह तो तुम्हारे सामने ही है, तुम अपनी आंखों से देख लो और यह कहकर श्रीकृष्ण ने अपना मुख खोल दिया। तदनन्तर यशोदा ने बालकृष्ण के छोटे से मुख में सैकड़ों ब्रह्माण्ड आदि देखे और वे विस्मित हो गयीं। श्रीकृष्ण ने देखा कि माँ यशोदा तो मुझे ब्रह्म समझ बैठी है और अत्यन्त घबड़ा रही है तो उन्होंने माया द्वारा यह घटना यशोदा को भुला दी और यशोदा भी उन्हें पूर्ववत् वात्सल्य रस से आप्लावित करने लगीं।

—भा० द० स्क० अ० ८, श्लोक ३२-४४

तथा

अव्यक्तं अक्षरे लीयते क्षरं तमसि लीयते तमः परेदेवे एकी भवति इति श्रुतेः।

'वरेण्यम्' अर्थात् सौन्दर्य की सीमा। (श्रीकृष्ण ही सौन्दर्य की सीमा हैं।) इस कथन की पुष्टि भागवत के उद्धरण द्वारा करते हैं—

त्रैलोक्य सौभगमिदं सुनिरीक्षरूपम्।
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥

'कमलेक्षणम्'[1] खिले हुए कमल के समान नेत्र वाले (श्रीकृष्ण का ध्यान करते हैं)।

"य एषोन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यकेशा हिरण्यमश्मश्रु। आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेव अक्षिणी"।

इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् के कमलनेत्र होने के प्रमाणस्वरूप हैं।

नाम गुण लीला के श्रवणमात्र से सभी पापों को हरने वाले श्रीकृष्ण 'हरि'[2] नाम से कहे जाते हैं। टीकाकार ने इस कथन की पुष्टि हेतु उद्धरण प्रस्तुत किये हैं—

"ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति। सोश्नुतेसर्वान्कोमान्। स ब्रह्मणाविपश्चितेस्यादि श्रुतेः।

तथा

"अतिपापप्रसक्तोपि ध्यायेन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥"

—इति पराशर वचनाच्च

---

१. कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥

——महाभारत, सभापर्व, नारदवचन, मूलतः, श्रीमद्भागवत-आठटीका संस्करण, शुकदेवकृत, सिद्धान्तप्रदीप, के० का० भट्टकृत वेदस्तुति की टीका, पृ० १०३७, सं० १९६४ देवकी नन्दन यंत्रालय, वृन्दावन।

२. 'उदेति हर्वैसवेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेदेति हरिम्, श्रवणमात्रेण सर्वपापहारिणम्'।
तत्त्वसारप्रकाशिनी पृ० ४ रे०

वामाङ्गसहिता देवी राधावृन्दावनेश्वरीति कृष्णो[1] मंगलरूपं युगलस्वरूपं श्रीसनकसम्प्रदायभिः । सर्वैरपि ध्यायेमित्याशयेन[2] आह-अङ्ग इत्यादिना। श्रीकृष्णस्य[3] वामाङ्गे वयं वृषभानुजां स्मरेम इत्यन्वयः। कथंभूतां मुदां[4] हर्षेण विराजमानां अनुरूपसौभगाम् । श्रीकृष्णमनोविश्रामस्थानभूतां[5] । सखीसहस्रैः रंगदेव्यादिभिः सदां परिसेवितां मुदा[6] परिसेवितां।

देवीं द्योतमानां[7]। सकलेष्टकामदां अभीष्टप्रदां श्रीगोपीनां[8] रासमण्डले भगवतोनेक रूपत्वं रूप रूपं प्रतिरूपो बभूवेत्यादिश्रुतिप्रतिसिद्धं बोध्यम् ।५।

---

१. कृष्मो
२. आसयेन
३. कृष्मस्य
४. मुदा
५. श्रीकृष्ण
६. मुदाम्
७. द्योतमानानाम्
८. गोपीनो

द्रष्टव्य—श्लोक में 'अनुरूपसौभगाम्' के स्थान पर 'अनुरूसौभगाम्' ऐसा लिखा हुआ है।

वामाङ्गसहिता देवी राधावृन्दावनेश्वरी इति'।

श्रीकृष्ण मंगलरूप हैं, वे श्रीराधा सहित युगलस्वरूप में श्रीसनक सम्प्रदाय के सभी अनुयायियों के ध्येय हैं। सबको राधा-कृष्ण के युगलस्वरूप की उपासना करनी चाहिए. इस आशय से ही 'अङ्ग' इत्यादि श्लोक कहा गया है। श्रीकृष्ण के वामाङ्ग में हमको वृषभानुजा का स्मरण करना चाहिए यह अन्वय है। श्रीराधा कैसी हैं ? प्रफुल्लित हुई आसीन हैं, अनुरूप सौभगा हैं अर्थात् श्रीकृष्ण के मन के विश्राम की स्थानभूता हैं, सहस्रों सखियों–श्रीरङ्गादेवी आदि द्वारा सेवित द्युतमती तथा समस्त मनोकामनाओं की पूर्ति करने वाली हैं।

(श्रीकृष्ण ने ब्रजमण्डल के अन्तर्गत वृन्दावन धाम में यमुना के तट पर कार्तिक की शरद-पूर्णिमा को महारास रचाया था जिसमें उन्होंने गोपियों की मनोकामना को पूर्ण करने के लिए अपने सहस्रों रूप बना लिए थे जिसके फलस्वरूप प्रत्येक गोपी के साथ एक-एक कृष्ण महारास कर रहे थे; अतः टीकाकार नन्ददास का विचार है कि श्रीकृष्ण का अनेकों रूप धारण करना श्रीराधा की ही अनुमति से हुआ था, अतः श्रीराधा अभीष्टकामप्रदा हैं।)

श्रुति भी यही कहती है—

"रूपं रूपं[1] प्रतिरूपो बभूवेत्यादि श्रुतिप्रतिसिद्धं बोध्यम्।"

---

१. भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।१।।
ताभिः समेताभिरुदारचेष्टितः,
प्रियक्षणोत्फुल्लमुखीभिरच्युतः ।
उदारहासद्विजकुन्ददीधिति-
र्व्यरोचतैणाङ्क इवोडुभिर्वृतः ।।४३।।
उपगीयमान उद्गायन वनिताशतयूथपः।
मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम् ।।४४।।
भा०, द० स्क०, अ० २९

संसारसागरं तितीर्षुभिः सर्वैरपि युगलस्वरूपमेवोपास्यमित्याह उपासनीयमित्यादिना[१]। अज्ञानतमोऽनुवृत्तेः प्रहाणये अविद्यायाः निवृत्तये सदा पंचस्वपिकालेषु जनैः प्रेक्षावद्भिः नितराम् अविच्छेदेन युगलस्वरूपमुपासनीयम्। इयमेव उपासना सनन्दनाद्यै मुनिभिः श्रीनारदायोपदिष्टा। तथा च श्रुतिः 'त्वं हि नः पिता योस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयति। श्रुतं ह्यमेव भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति। सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवान्छोकस्य पारं तारयतु तस्मै मृदितकषायाय तमसः[२] पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इत्यादि। ननु सनत्कुमारैः नारदाय ज्ञानमुपदिष्टं[३] नोपसनेति चेत्सत्यं। ज्ञानं च उपासनात्मकं। उपास्य च सगुण ब्रह्म इति अविरोधः। यथा तत्त्वद्दृष्टारं श्रीवेदव्यासं श्रीमन्नारद उपदिष्टवान्। तथैव भगवान् सनत्कुमारोऽपि नारदं उपादिशत्[४] इत्यर्थ।

ननु निर्विशेष ब्रह्मज्ञानात्सकलभेदनिवृत्तिः अविद्यानिवृतिरेव मोक्षः तथाहिः श्रुति—न पुनर्मृत्यवे[६] तदेकं पश्यति न पश्यो मृत्युं पश्यति तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः। पंथा विद्यतेऽयनायेत्याद्या इति चेन्न तमिति सहस्रशीर्षत्वात् विशिष्टस्य एव परामर्शात्। पृथगात्मानं प्रेरितारं[७] च

(पृष्ठ ६५ की शेष टिप्पणी) तथा

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥
रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः।
प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥३॥

भा०, द० स्क०, अ० ३३

१. इत्यादीनाम्
२. त्तमसः
३. उपदिष्ठ
४. उपदिष्ठवान्
५. उपदिशत्
६. मृत्युवे
७. प्रेरितारे

मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति। यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं[१] पुरुषंब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे[२] विधूय निरंजनः। परमं साम्यमुपैति इत्यादि श्रुतिषु सगुणब्रह्मज्ञानादेव मोक्षोक्तेः। ननु नेदं ब्रह्म यदिदम् उपासन इति उपास्यत्वं प्रतिसिद्धं इति चेन्न। अत्र ब्रह्मणो जगद्वैरूप्यप्रतिपादनात्। यदिदं जगदुपासते प्राणिनः नेदं ब्रह्मत्वं विद्धि[३] यद्वा चानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते[४] इति वाक्यार्थः।

अविद्यानिवृत्तिः किमात्मरूपा तद्भिन्ना वा न प्रथमः असाध्यत्वापत्तेः। द्वितीयेऽपि किं सत्या मृषा वा अद्वैतहानिः। प्रथमो कल्पो न कल्पते[५], द्वितीये कल्पेऽविद्यादेः सत्यत्वापत्तेः तस्मादविद्यानिवृत्तिरूपामुक्तिः अनुपपन्ना ।६।

---

१. कर्त्तामीशं
२. पुन्य
३. सिद्धि
४. वागम्युद्यते
५. कुलपत्ते

संसार-सागर से पार जाने की इच्छा रखने वाले समस्त भक्तों को राधाकृष्ण के युगलस्वरूप की ही उपासना करनी चाहिए। इसी कथन को "उपासनीयम्" इत्यादि श्लोक द्वारा कहा गया है। अविद्यारूपी अन्धकार की निवृत्ति के लिए सदैव ही निरन्तर पंचकालों में राधाकृष्ण के युगलस्वरूप की उपासना करनी चाहिए। इसी उपासना का उपदेश सनन्दनादि मुनियों ने श्रीनारद जी को दिया था जैसाकि श्रुतियों में भी कहा गया है—

"त्वं हि नः पिता योस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयति। श्रुतं ह्यमेव भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति। सोहं भगवः शोचामि तं मां भगवान्छोकस्य पारं तारयतु तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार इत्यादि"।

शङ्का करते हैं कि सनत्कुमार भगवान् ने नारद जी को ज्ञान का उपदेश दिया था उपासना का नहीं, अब यहाँ उपासना की बात कैसे? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ठीक है, लेकिन वह ज्ञान उपासनात्मक ही है जिसका उन्होंने उपदेश दिया। उपास्य सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं। जिसमें आपके (प्रश्नकर्ता) तथा हमारे (सिद्धान्ती) मध्य कथन में कोई विरोध नहीं रह जाता। जिस तरह तत्वद्रष्टा व्यासजी को नारदजी ने उपदेश दिया था वैसे ही सनत्कुमार ने नारदजी को उपदेश दिया था।

शङ्का करते हैं कि निर्विशेष ब्रह्म के ज्ञान से समस्तभेद की निवृत्ति रूप अविद्या निवृत्तिरूप मोक्ष है जैसाकि श्रुतियाँ कहती हैं कि—

"न पुनर्मृत्यवे तदेकं पश्यति न पश्यो मृत्युं पश्यति तमेवविदित्वाति-मृत्युमेति नान्यः। पंथा विद्यतेऽयनायेत्याद्या इति चेन्न।"

यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि सहस्रशीर्षत्वादि विशिष्ट, सगुण सविशेष ब्रह्म का परामर्श होने से। जैसाकि श्रुतियों में प्रसिद्ध है—

"पृथमात्मानं प्रेरितारं मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति। यदापश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिं तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन परमं साम्यमुपैति इत्यादि श्रुतिषु।"

सिद्ध है कि सगुणब्रह्म के ज्ञान से मोक्ष कहा गया है।

शङ्का करते हैं कि—जिसकी उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है, इस वचन से उपास्यत्व का निषेध है यह भी नहीं कह सकते क्योंकि 'नेदं ब्रह्म' श्रुति में ब्रह्म को जगत् से भिन्न रूप में प्रतिपादित किया गया है क्योंकि—

"यदिदं जगदुपासते प्राणिनः नेदं ब्रह्मत्वं विद्धि यद्वा चानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते इति वाक्यार्थः।"

इत्यादि वाक्यार्थ ही प्रमाण हैं।

अब प्रश्न उठता है कि अविद्या निवृत्ति आत्मरूप है अथवा इससे भिन्न? यदि आत्मरूपा अविद्यानिवृत्ति मानते हैं तो असाध्यत्वदोष की आपत्ति होती है और द्वितीय पक्ष—आत्मभिन्न अविद्या-निवृत्ति मानने पर क्या यह सत्य है अथवा मिथ्या, इसमें अद्वैत हानि होगी। इसलिए प्रथमकल्प उचित नहीं है और द्वितीय कल्प में भी अविद्या की सत्यता की आपत्ति होने लगती है। इसलिए अविद्या-निवृत्तिरूप मुक्ति सर्वथा अनुपपन्न ही है।

शास्त्रसत्यत्वप्रतिपादनाय सर्वविज्ञानस्य यथार्थत्वमाह सर्वमित्यादिना। निखिलस्य वस्तुनः चेतनाचेतनस्य ब्रह्मणो जातत्वात् ब्रह्मात्मकत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धम्। अतः सर्वविज्ञानं यथार्थकमेव[1] इत्यन्वयः। श्रुत्वादिकमेव शास्त्रं तत्सिद्धं सर्वमेव यथार्थं इत्यर्थः। न त्वसत्यमेव शास्त्रम्। तच्चासत्यमपि सत्यब्रह्मविषयप्रतिपत्तिहेतुः। स्वाप्नहस्त्यादि[2] ज्ञानस्य असत्यस्य शुभाशुभ प्रतिपत्ति हेतुत्ववदिति चेन्न ज्ञानस्य सत्यत्वात्। तद्विषयाणामेव मृषात्वेन तेषामेव[3] बाधो न ज्ञानस्य तथा प्रतीत्यदर्शनात्[4]। तस्माद् सत्यमेव शास्त्रम्। एवं प्रतिबिम्बरेखारोपित वर्णवर्णदैर्घ्यादिशंकां विषयसवितृसुषिररज्जुसर्पादि विज्ञानं सत्यमेव। त्रिरूपतेति श्रुतिसूत्रेति तासामेकैकं त्रिवृत्तं त्रिवृत्तं करवाणीति[5] श्रुतिः। आत्मकत्वात्तु भूयस्त्वादिति[6] सूत्रम्। आभ्यां त्रिरूपताग्न्यादौ साधिता त्रिवृत्तकरणमेव पंचीकरणस्याप्युपलक्षम्। अतः सर्वमपि विज्ञानं यथार्थमेवेति भावा[7] ॥७॥

---

१. यथार्थकवर्म

२. हस्त्वादि

३. तेषमेव

४. प्रत्यिपद

५. करवाणीतिः

६. भूयस्त्वादितिः

७. भावाः

शास्त्र की सत्यता प्रमाणित करने के लिए सर्वविज्ञानवाद के यथार्थवाद को प्रमाणित करने के लिए 'सर्वम् इत्यादि' श्लोक को कहते हैं। चेतन और अचेतन जितनी भी वस्तुएं हैं वे सब ब्रह्म द्वारा जन्य होने से ब्रह्मात्मक हैं; क्योंकि श्रुतियों तथा स्मृतियों में भी ऐसी ही प्रसिद्धि है। अतः विज्ञान यथार्थ है, ऐसा अन्वय है।

संसार को असत् बतलाने वाले आपत्ति देते हैं कि यद्यपि शास्त्र असत्य है तथापि वह सत्य ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, यथा—स्वप्न में हाथी घोड़े का ज्ञान असत् होते हुए भी शुभाशुभ फल का हेतु हो जाता है। शास्त्र को सत् बतलाने वाले खण्डन करते हैं कि स्वप्न का विषय भले ही असत्य हो किन्तु उसका ज्ञान असत्य नहीं है। उस ज्ञान का बाध नहीं होता। अतः शास्त्र ही सत्य है। रेखाओं से बनाया हुआ वर्ण और उसके ह्रस्व-दीर्घादि तथा शङ्का-विषय—सूर्य में छिद्र और रज्जु में सर्प आदि का ज्ञान होना भी सत्य है। त्रिरूपता—श्रुति और ब्रह्मसूत्र आदि इनमें एक-एक तत्त्व का त्रिवृत्तकरण[1] बतलाया गया है, वह पंचीकरण का भी उपलक्षण है। इसलिए सबका सब विज्ञान यथार्थ है।

---

१. पृथ्वी, जल, तेज का त्रिवृत्तिकरण वायु आकाश सहित पंचीकरण का उपलक्षण है। अर्थात् अग्नि आदि प्रत्येक तत्व में पांचों तत्व रहते हैं।

तमेव विदित्वा इति शास्त्रार्थमाह। नान्यागतिः[1] श्रीकृष्णपदारविंदादन्यागतिर्जीवस्य[2] न संदृश्यते इत्यन्वयः। तत्पदारविन्दम्। चतुर्भिविशेषणैर्विशिष्ट ब्रह्मशिवादिवंदितात् इति। अनेनाऽखिलब्रह्माण्डनायकत्वं सर्वोत्तमत्वं च विवृतं भवति भक्तेच्छया[3] इति भक्त्यानां इच्छया उपात्तः, सुचिन्त्य विग्रहो येन स तस्मात्। अचिन्त्यशक्तेः इति। परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते[4] स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतेः। अविचिन्त्य साशयादिति[5] आशयेन[6] सहवर्त्तनं साशयं[7]। अविचिन्त्य ब्रह्मादिभिः अविदितं चेष्टितं यस्य तस्मात्। यतो वाचो निवर्त्तन्ते। अप्राप्य[8] मनसा सहेति[9] श्रुते ।८।

---

१. गति
२. श्रीकृष्त्म
३. भक्तेच्छयेति
४. श्रुयते
५. समादिति
६, आसयेन
७. सय
८. अप्राथ
९. सहेत्ति

द्रष्टव्य—इस श्लोक की टीका में टीकाकार ने पदों की व्याकरणात्मक टिप्पणियां भी की हैं।

श्लोक में 'कृष्ण' के स्थान पर 'कृष्त्म' तथा 'वन्दितात्' के स्थान पर 'वन्दिताम्' और 'साशयात्' के स्थान पर 'शासयात्' का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार 'अविचिन्त्य' के स्थान पर 'अविचिन्त्ये'—ऐसा रूप लिखा हुआ प्राप्त होता है।

'तमेव विदित्वा' इत्यादि श्रुति (शास्त्र) के अर्थ को कहते हैं कि जीव की श्रीकृष्ण के चरण-कमलों को छोड़कर कोई दूसरी गति नहीं है, यह अन्वय है। (श्रीकृष्ण के चरणों में ही एकमात्र जीव का कल्याण निहित है) श्रीकृष्ण के पदारविन्द चार विशेषणों से विशिष्ट हैं—

१—ब्रह्मा, शंकरादि देवता जिसकी सदैव वन्दना करते रहते हैं। इस विशेषण द्वारा श्रीकृष्ण का अखिल ब्रह्माण्ड का नायकत्व सिद्ध होना प्रतिपादित होता है।

२—भक्तों की इच्छानुसार सुन्दर विग्रह धारण करने वाले[1]।

३—अचिन्त्य शक्ति वाले, जैसा कि श्रुतियों में भी कहा गया है—

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतेः।"

४—अविचिन्त्य साशयात्-ब्रह्मा-शंकर आदि भी जिसका पार नहीं पा सकते (अर्थात् श्रीकृष्ण परब्रह्म कब, कहाँ और क्या करना चाहते हैं, इस आशय को भी जो नहीं जान पाते) जैसा कि श्रुतियों में कहा गया है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सहेति श्रुतेः"।

(ऐसे श्रीकृष्ण के पदारविन्दों के अतिरिक्त जीव का कोई दूसरा आश्रय नहीं है।)

---

१. जब भगवान् ने वराहावतार धारण करके हिरण्याक्ष को मार डाला तब भाई के इस प्रकार मारे जाने पर हिरण्यकशिपु रोष से जल उठा और शोकसंतप्त हो उठा। हिरण्यकशिपुने यह विचार किया कि मैं अजर,अमर और संसार का एकछत्र सम्राट बन जाऊँ, जिससे कोई मेरे सामने खड़ा तक न हो सके। इसके लिए वह मन्दराचल की एक घाटी में जाकर अत्यन्त दारुण तपस्या करने लगा। देवताओं के १०० वर्ष बिना पानी पिये उसने ऐसा कठोर तप किया जैसा कि पहले कभी किसी ऋषि ने नहीं किया। उसकी तपस्या से प्रसन्न होकर ब्रह्माजी ने उससे मनवांछित वर माँगने को कहा। हिरण्यकशिपु ने कहा—प्रभो! आप सब देवताओं में श्रेष्ठ हैं। यदि आप मुझे अभीष्ट वर देना चाहते हैं तो ऐसा कर दीजिये कि आपके बनाये हुए किसी भी प्राणी—मनुष्य, पशु, नाग, देवता, या अप्राणी से मेरी मृत्यु न हो। भीतर-बाहर, दिन में रात में, अस्त्र-शस्त्र से, पृथ्वी या आकाश में कहीं भी मेरी मृत्यु न हो। युद्ध में कोई

भी मेरा सामना न कर सके। मैं समस्त प्राणियों का एकछत्र सम्राट होऊँ। इन्द्रादि लोकपालों में जैसी आपकी महिमा है वैसी मेरी भी हो। तपस्वियों और योगियों को जो अक्षय ऐश्वर्य प्राप्त है वही मुझे भी दीजिये।

यद्यपि हिरण्यकशिपु ने अत्यन्त दुर्लभ वर माँगे थे तथापि ब्रह्माजी ने उसकी तपस्या से प्रसन्न होने के कारण उसे वे वर दे दिये। वर प्राप्ति के बाद हिरण्यकशिपु प्रजा के साथ मनमानी करने लगा और अपने सबसे छोटे पुत्र प्रह्लाद को विष्णु-भक्त होने के कारण भाँति-भाँति की यातनाओं द्वारा पीड़ित करने लगा। प्रह्लाद को मारने की उसने अनेकों चेष्टायें कीं, किन्तु विष्णु भक्त प्रह्लाद न मरे और न हीं उसकी धमकियों से डरकर भगवान का भजन करना ही छोड़ा।

एक दिन हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को राजदरबार में बुलाकर उससे गुरुकुल में गुरु द्वारा दी गई शिक्षा के विषय में पूछा। प्रह्लाद ने अपनी माता की गर्भावस्था में रहकर नारदजी से भगवान् विषयक जो चर्चा सुनी थी वही ज्ञान अपने पिता हिरण्यकशिपु को कह सुनाया। विष्णु भगवान् से बैर-भाव रखने वाला हिरण्यकशिपु उसकी बातें सुनकर क्रोध से तिलमिला उठा और बोला – तेरा भगवान कहाँ है ? इस खम्भे में क्यों नहीं दिखाई देता ? जब क्रोध के कारण वह अपने को रोक न सका तब हाथ में खड्ग लेकर सिंहासन से कूद पड़ा और बड़े जोर से उस खम्भे को घूँसा मारा।

उसी समय उस खम्भे में बड़ा भयंकर शब्द हुआ और ऐसा जान पड़ा मानो ब्रह्माण्ड ही फट गया हो। हिरण्यकशिपु प्रह्लाद को मार डालने के लिए बड़े जोर से झपटा किन्तु उस भयानक दिल दहला देनेवाले शब्द को सुनकर घबड़ाया हुआ-सा चारों तरफ देखने लगा कि यह शब्द करने वाला कौन है ? इसी समय अपने सेवक प्रह्लाद और ब्रह्मा की वाणी सत्य करने और समस्त पदार्थों में अपनी व्यापकता दिखाने के लिए सभा के भीतर उसी खम्भे में बड़ा ही विचित्र रूप धारण करके भगवान् प्रकट हुए। वह सोचने लगा कि अहो ! यह न तो मनुष्य है और न पशु फिर यह नृसिंह के रूप में कौन सा अलौकिक जीव है।

—भा० पु०, स्क० ७, अ० २-८ अ० तक

उक्तलक्षणस्य भगवतः कृपादैन्यं मर्त्येष्वाविर्भवतीत्याह[1]— कृपेत्यादि दैन्याजि युजि दैन्यादिसम्पन्नेऽस्य महात्मनो ह्यनधिपतेः[2] श्रीकृष्णस्य कृपा जायते प्रकटो भवति इति अर्थः। दैन्यादयस्तु श्रीमत्केशवकाश्मीरचरणैरुक्ताः[3] आदौ दैन्यं हि सन्तोषः परिचर्य्या ततः परम् कृपा च सत्संगोऽथसद्धर्मरुचिः[4] ततः कृष्णे रतिस्ततो भक्तिर्या प्रोक्ता प्रेमलक्षणा[5]। राधिकाकृष्णसम्प्राप्तौ[6] क्रमप्रोक्तो महत्तमैरिति। भक्तिं विभजति सा चोत्तमेति। भक्तिः[8] द्विधा— विहिताविहिता चेति। ज्ञानांगभूता द्विविधा—सगुणनिर्गुणचेति। सगुण-भक्तिस्त्रिविधा—ज्ञानमिश्रावैराग्यमिश्रा कर्म मिश्रा चेति। साधनरूपाभक्तिः निरूपिता। निर्गुणभक्तिरेकैवेति। अविहिताभक्तिः चतुर्विधाकामजा, द्वेषजा, भयजा स्नेहजाश्चेति एवमन्येपि भेदाः समूहनीयाः।८।

---

१. मर्त्येषाविर्भवति
२. नाधिपते
३ चरणीरुक्ताः
४. सत्संगोथ
५. प्रेवलक्षणा
६. क्रस्म
७. चोत्वमेति
८. भक्ति

द्रष्टव्य—इस श्लोक में लिपिकार ने 'लक्षणा' शब्द के स्थान पर 'लक्षणात्' शब्द का उल्लेख किया है।

'कृपास्य' इत्यादि श्लोक द्वारा कहते हैं कि त्रिलोकीनाथ श्रीकृष्ण की कृपा दीनता आदि गुणों से युक्त पुरुष पर होती है। आचार्य केशव-काश्मीरीभट्ट ने दीनता आदि गुणों एवं प्रेमलक्षणा भक्ति का वर्णन किया हैं—सर्वप्रथम दीनता तत्पश्चात् सन्तोष, सेवा, कृपा, सत्संग की प्राप्ति, सत्धर्म में रुचि का होना, कृष्ण में प्रेम होना, तदनन्तर प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है जो महापुरुषों के द्वारा राधाकृष्ण की प्राप्ति कराने वाली कही गई है[१]।

भक्ति के भेद बतलाते हैं। भक्ति दो प्रकार की है—(१) विहिताभक्ति (२) अविहिता भक्ति।

विहिताभक्ति दो प्रकार की है—(१) सगुणभक्ति (२) निर्गुणभक्ति।

सगुण भक्ति तीन प्रकार की है—(१) ज्ञानमिश्रा (२) वैराग्यमिश्रा तथा (३) कर्ममिश्रा। निर्गुण भक्ति एक ही है।

अविहिता भक्ति चार प्रकार की है—(१) कामजा (२) द्वेषजा (३) भयजा (४) स्नेहजा।

इसी प्रकार अन्य भेद भी गिन लेने चाहिए।

१. प्रकारान्तर से भक्ति के ९ भेद कहे गये हैं—
श्रवणं कीर्त्तन विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥
—भा० ७वाँ स्कन्ध, श्लोक २३, अ० ५

तालिका
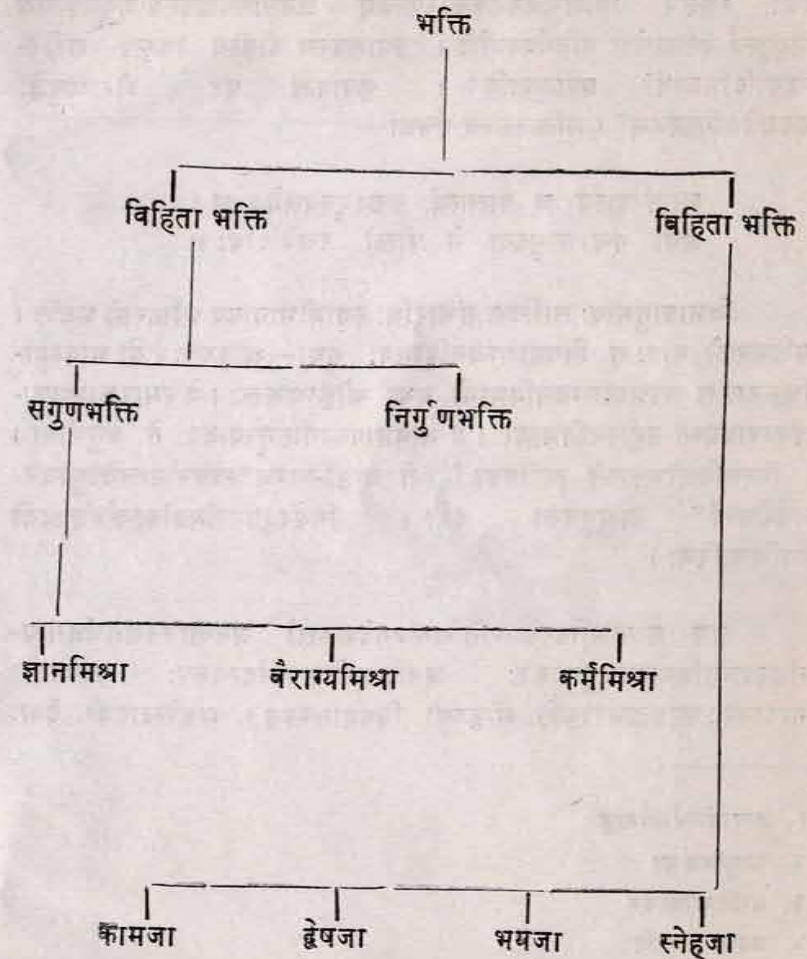
अथ शास्त्रविषयज्ञानार्थमर्थमाह[1]उपास्येति । इमे उपास्य रूपादयः पंचाप्यर्थाः साधुभिर्ज्ञेया[2] इत्यन्वयः । उपास्य रूपं श्रीकृष्ण-रामचन्द्रनृसिंह-प्रभोः स्वरूपं निखिलजगदेककारणत्वम् अनंतानवद्यकल्याणगुणकरत्वं नियंतृत्वं अनन्यापेक्ष महिमैश्वर्यादि । उपासकस्य जीवस्य स्वरूपं—शरीरेन्द्रियादिभिन्नत्वं[3] प्रपन्नत्वादि[4] । कृपाफलं परं वैराग्यबुद्धेः भगवंदेकनिष्ठत्वम्[5] । भक्तिरसश्च पंचधा—

शान्तं दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्वलमेव च ।
अमी पंचरसामुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः ॥

विभावानुभावः सात्विक संचारभिः स्थायीभावाख्य भक्तिरसो भवति । यद्विषयको भावः स विषयालम्बनविभावः यथा—श्रीकृष्णः । यो भावस्याधिकरणं स आश्रयालम्बनविभावो यथा श्रीकृष्णभक्तः । ये स्मारकाभूषणालंकारादयस्ते उद्दीपनविभावाः । ये भावज्ञापकागीतनृत्यादयः ते अनुभावा । चित्तादिक्षोभकास्ते सात्विका[6] । ते चाष्टौ-स्तम्भ[7]स्वेदरोमांचवेपथुस्वरभंगवैवर्ण्य[8] अश्रुपुलका इति । निर्वेदहर्षगर्वमदवितर्कमोहादयो व्यभिचारिणः ।

तत्र शान्तभक्तिरसे—निखिलजगदेककर्त्ता अनन्तानवद्यसर्वज्ञसत्यसंकल्पत्वादिकल्याणगुणाकरः अनधिकातिशयानंदस्वरूपः परमात्मा नारायणः परंब्रह्मनराकृतिः श्रीकृष्णो विषयालम्बन । शंकरेन्द्रादयो देवाः

१. ज्ञानार्थमर्थमर्थमाह
२. साधुभिर्ज्ञेया
३. आदिभ्यौन्नत्वम्
४. प्रपन्नत्वात्वादि
५. निष्टत्त्वम्
६. सास्तिकाः
७. स्तम्भः
८. वैवर्ष्यः

आश्रयालम्बना । उपनिषद्विचारादयः उद्दीपन विभाषाः नासाग्रहदृष्ट्यादयो[1] नुभावाः । प्रलयवर्जिता अश्रुपुलकरोमांचा सात्त्विकाः निर्वेदस्मृत्यादयः संचारिणः शान्तरति स्थायीति । दास्यरसे तु सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः[2] परमकारुणिकः शरणागतपालकः भक्तवत्सलप्रभुः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः । अर्जुनोद्धवपरीक्षितादयः आश्रयावलम्बनाः । भक्ततुलसीपदचिह्नगुणगोपीचंदनोच्छिष्टस्रग्गंधमाल्यादयः उद्दीपनविभावाः[3] । श्रीकृष्णो[4] करुणादयोनुभावः । स्तम्भादयाष्टौ[5] सात्विकाः । हर्षगर्वादयो हि संचारिणः । स्नेहादि स्थायीभावः । श्रीकृष्णवियोगे तु दशदशाः—अङ्गेषु तापः, कृशता[6] जागर्तिः, उपालम्भनम् अधृतिः जड़ता, व्याधिरून्मादो मूर्छितं मृतिरिति ।

एवं सख्यरसेऽपि चतुरशिरोमणिः सत्यसंकल्पमेधावीसुन्दरः सुवेशो द्विभुजः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः । मधुमंगलसुबलनामानः सखादयो अनेकधा सखा य आश्रयालम्बनाः । शृङ्गवेत्रादयश्च उद्दीपनविभावाः[7] । स्तम्भादयोऽष्टौ सात्त्विकाः । हर्षगर्वद्याः[8] संचारिणः । सख्यरतिः स्थायीभावः । दशदशापूर्ववत् ।

वात्सल्यरसे तु कोमलाङ्गः कलभाषणः सर्वलक्षणसंयुतः बालः श्रीकृष्णविषयालम्बनः नंदोपनंदरोहिणीयशोदाद्या आश्रयालंबनाः । स्मितजल्पितः चापल्य बाल्यः[9] चेष्टिताद्या उद्दीपनविभावाः । अङ्गभिमार्जनाशीर्वादनादेशलालनपालनादयोनुभावाः[10] । तत्राष्टौ सात्विकाः स्तनस्रवस्तुविशेषः[11] ।

१. दृष्टवादयो
२. शर्वशक्ति
३. विभागा
४. श्रीकृष्मो
५. स्तम्भादयौष्टौ
६. कृषता
७. विमावा
८. हर्षगर्व्यद्याः
९. वाल्य
१०. अनुभावा
११. स्तनश्रवस्तु

हर्षशंकाद्या व्यभिचारिण: । वात्सल्यं[१] स्थायी । वियोगे दशदशापूर्ववत् ।

शुक्ल रसे च सर्वमाधुर्यवान् कमनीयकिशोरमूर्तिः श्रीकृष्णो विषयालम्बनः । श्रीकृष्णप्रिया आश्रयालम्बनाः । गुंणवंशीरववसंतकोकिलाद्याः उद्दीपनाः । कटाक्षमोक्षस्मितादयोनुभावाः ।

इति श्रीमद्भगवन्निम्बार्कस्वामीविरचितं दशश्लोकीभाष्यप्रकरण[२] समाप्तम् । श्रीरस्तु ।

सर्वेऽपि सात्त्विकाः । आलस्योद्विग्नता निर्वेदादयो व्यभिचारिणः[४] । प्रियरतिः[५] स्थायीभावः । हास्यादीनामत्रैवान्तर्भावात्[६] पंचैवरसाः ।[७] विरोधिन इति—एतदाप्तेः श्रीकृष्णप्राप्तेः[८] विरोधिनः । प्रतिबन्धकस्य रूपं—भक्तापराधत्वं विषयाशक्तत्वं उचितस्य परित्यागो अनुचितस्य करणं दिग्विद्वैकादशीवृत्तमित्यादि । प्रपन्नत्वादि जीवस्य स्वाभाविको धर्म इत्युक्तं । प्रपत्तिः शरणागतिः[९] सा च षोढा[१०] आनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य[१२] च वर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोपतृत्ववरणं[१३] तथा आत्मनिक्षेपकार्पण्ये

---

१. वात्सल्य
   द्रष्टव्य—इस श्लोक में 'पंच' शब्द का उल्लेख नहीं हुआ है अपितु 'अपि साधुभिः' केवल यही रूप लिखा हुआ प्राप्त होता है ।
२. प्रकर्ण
३. आलसौग्रहीता
४. व्यमचारिंण:
५. प्रियतारति
६. हास्यादीनां मत्रैवां भीवात्
७. पंचैरवसा:
८. श्रोकृष्टमप्राप्ते
९. सरणागति
१०. षोडा
११. अनुकूलस्य
१२. प्रतिकूलस्य
१३. पाठान्तर—मतृत्वे वचनं तथा

षड्विधा शरणागतिः[१] कुमारोक्तेः । भवतापप्रहर्त्तारं वांञ्छितार्थप्रवर्षिणम् । आश्रयसुविहंगानां निम्बार्क प्रभुमाश्रये ।१०। इति श्रीनन्ददासस्वामीविरचिता[२] तत्वसारप्रकाशिनी सम्पूर्णा[३] । सम्वत् १९४८ आषाढ़[४] शुक्ला नवमी, ९, बुधवार[५] हस्ताक्षररघुनाथदासस्य । श्रीवृन्दावने यमुनातीरे । श्रीकृष्णार्पणमस्तु[६] श्रीरस्तु शुभम् ।

---

१. शरणागति
२. विरचितायां
३. सम्पूर्णम्
४. आषाड
५. बुद्धवार
६, श्रीकृष्त्मार्पण

'उपास्य' आदि श्लोक द्वारा शास्त्र विषय ज्ञान के लिए अर्थ (अर्थपञ्चक) को कहते हैं—कि इन उपास्य, उपासक आदि पंचार्थों को भी सज्जनों को जानना चाहिए, ऐसा अन्वय है—

१—श्रीकृष्ण, रामचन्द्र तथा नृसिंह आदि भगवान् उपास्य हैं तथा इनका स्वरूप बतलाते हैं—ये समस्त जगत् के एकमात्र कारण हैं, इनमें अनन्त, अनवद्य कल्याण गुणों का समावेश है तथा ये नियामक हैं। भगवान् अनन्त ऐश्वर्य तथा महिमामय हैं और परम स्वतन्त्र हैं[१]।

---

१. आठ प्रकार की मुख्य सिद्धियाँ तो भगवान् के ऐश्वर्य का एक अंश है जो कि उन्हीं में निवास करती हैं और दूसरों में न्यून तथा दस प्रकार की गौंण सिद्धियाँ सत्त्वगुण के विकास से भी मिल जाती हैं—

सिद्धयोऽष्टादश प्रोक्ता धारणा योगपारगैः।
तासामष्टौ मत्प्रधाना दशैव गुणहेतवः ॥३॥
अणिमा महिमा मूर्तेर्लधिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः।
प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्ति प्रेरणमीशिता ॥४॥

—भा०, अ० १५, स्क० ११

मुख्य सिद्धियां—

अणिमा—पंचभूतों की सूक्ष्मतम मात्रायें मेरा (श्रीकृष्ण) ही शरीर है, जो साधक केवल मेरे उसी शरीर की उपासना करता है और अपने मन को तदाकार बनाकर उसी में लगा देता है अर्थात् मेरे तन्मात्रात्मक शरीर के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु का चिन्तन नहीं करता है, उसे अणिमा नाम की सिद्धि अर्थात् पत्थर, चट्टान आदि में प्रवेश करने की शक्ति अणुता प्राप्त हो जाती है।

महिमा—महत् तत्त्व के रूप में भी मैं ही प्रकाशित हो रहा हूं और उस रूप में समस्त व्यावहारिक ज्ञानों का केन्द्र हूं जो मेरे उस रूप में मन को महत्तत्त्वाकार करके तन्मय कर देता है उसे महिमानामक सिद्धि प्राप्त होती है और इसी प्रकार आकाशादि पंचभूतों में--जो मेरे

ही शरीर हैं—अलग-अलग मन लगाने से उन-उनकी महत्ता प्राप्त हो जाती हैं, यह ही महिमा सिद्धि के ही अन्तर्गत है।

३. **लघिमा**—जो योगी वायु आदि चार भूतों के परमाणुओं को मेरा ही रूप समझकर चित्त को तदाकार कर देता हैं, उसे लघिमा सिद्धि प्राप्त हो जाती है—उसे परिमाणरूप काल के समान सूक्ष्म वस्तु बनने की सामर्थ्य हो जाती है।

४. **प्राप्ति**—जो सात्त्विक अहंकार को मेरा स्वरूप समझकर मेरे उसी रूप में चित्त की धारणा करता है, वह समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता हो जाता है और इस प्रकार मेरा चिन्तन करने वाला भक्त 'प्राप्ति' नामक सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

५. **प्राकाम्य**—जो पुरुष मुझ महत्तत्त्वाभिमानी सूत्रात्मा में अपना चित्त स्थिर करता हैं उसे मुझ अव्यक्त जन्मा (सूत्रात्मा) की 'प्राकाम्य' नाम की हैं सिद्धि प्राप्त होती है जिससे इच्छानुसार सभी भोग प्राप्त हो जाते हैं।

६. **ईशित्व**—जो त्रिगुणमयी माया के स्वामी मेरे कालस्वरूप विश्वरूप की धारणा करता है, वह शरीरों और जीवों को अपनी इच्छानुसार प्रेरित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है, इस सिद्धि का नाम ईशित्व' है।

७. **वशिता**—जो योगी मेरे नारायण स्वरूप में जिसे 'तुरीय' और भगवान् भी कहते हैं—मन को लगा देता है, उसमें मेरे स्वामाविक गुण प्रकट होने लगते हैं और उसे वशिता नाम की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

८. **कामावसायिता**—निर्गुण ब्रह्म भी मैं ही हूं। जो अपना निर्मल मन मेरे इस ब्रह्म-स्वरूप में स्थित कर लेता है, उसे परमानन्द स्वरूपिणी

२—उपासकके स्वरूप को बतलाते हैं—यह जीव शरीर इन्द्रियादिकों से भिन्न प्रपन्नत्वादि गुणयुक्त है।

३—भगवत्कृपा ही फल (पुरुषार्थ) है जो परम वैराग्य युक्त बुद्धि द्वारा भगवान् में ही एकमात्र निष्ठा रखना है।

४—रसवेत्ताओं ने भक्ति रस को पांच प्रकार का माना है—

शान्तं[1] दास्यं च वात्सल्यं सख्यमुज्जलमेव च।
अमी पंचरसामुख्या ये प्रोक्ता रसवेदिभिः॥

(पृष्ठ ८३ की शेष टिप्पणी)

'कामावसायिता' नामक सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसके मिलने पर उनकी सारी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं।

भा० पु०, स्क० ११, अ० १५, श्लोक१०-१७

गौण सिद्धियाँ—मुख्य आठ सिद्धियों के अतिरिक्त अन्य दस गौण सिद्धियाँ हैं—

१. शरीर में भूख-प्यास आदि वेगों का न होना।
२. बहुत दूर की वस्तु देख लेना।
३. बहुत दूर की वस्तु सुन लेना।
४. मन के साथ ही शरीर का उस स्थान पर पहुंच जाना।
५. जो इच्छा हो वही रूप बना लेना।
६. दूसरे शरीर में प्रवेश करना।
७. जब इच्छा हो तभी शरीर छोड़ना।
८. अप्सराओं के साथ होने वाली देवक्रीड़ा का दर्शन।
९. संकल्प की सिद्धि।
१०. सब जगह सबके द्वारा बिना ननु-नच के आज्ञा-पालन।

—भा० पु०, स्क० ११, अ० १५, श्लोक १७-३१

१. तत्वसारप्रकाशिनी—प०५ व०

रस-निष्पत्ति का क्रम बतलाते हैं—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक संचारीभाव तथा स्थायी भावों द्वारा भक्ति रस होता है[1]। जिस विषय का भाव होता है वही विषय उसका आलम्बन विभाव होता है जैसे—श्रीकृष्ण। जो भाव का अधिकरण होता है वही आश्रय आलम्बन विभाव होता है यथा—कृष्णभक्त। जो स्मारकाभूषण, अलंकार आदि हैं वे उसके उद्दीपन विभाव होते हैं। जो भावज्ञापक गीत-नृत्यादि हैं वे अनुभाव हैं। चित्तादि के क्षोभक सात्विक भाव आठ प्रकार के हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, वेपथु, स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु पुलकावस्था। निर्वेद, हर्ष, गर्व, मद, वितर्क मोहादि व्यभिचारीभाव हैं।

इसी तरह शान्त-भक्तिरस में समस्त जगत् का एकमात्र कर्त्ता, अनन्त अनवद्य सर्वज्ञ सत्यसंकल्प आदि कल्याण गुणों की खान, अतिशय आनन्द-स्वरूप परमात्मा, नारायण, परब्रह्म नराकृति श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन है। शंकर इन्द्रादि देवता आश्रयालम्बन हैं। उपनिषद् विचारादि उद्दीपनविभाव हैं। नासिका के अग्रभाग में दृष्टि का स्थिर रखना ही अनुभाव है। अश्रु, पुलक, रोमांच आदि सात्त्विक भाव हैं तथा निर्वेद-स्मृति आदि संचारीभाव हैं। शान्तरति इसका स्थाई भाव है।

दास्य-रस में तो सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्, परमकारुणिक, शरणागत-पालक, भक्तवत्सलप्रभु श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। अर्जुन उद्धव, परीक्षितादि आश्रयालम्बन हैं। भक्त,तुलसी, पदचिह्न, गुण, गोपीचन्दन भगवान् पर चढ़ी हुई माला चन्दन आदि उद्दीपन विभाव हैं। श्रीकृष्ण की करुणा आदि अनुभाव हैं। पूर्वोक्त आठ स्तम्भादि सात्त्विक भाव हैं। हर्ष-गर्व आदि संचारीभाव हैं तथा स्नेहादि स्थायीभाव हैं। श्रीकृष्ण के वियोग में दस प्रकार की दशायें होती हैं—अङ्गों में ताप, कृशता, जागरण, उपालम्भ, अधैर्यता, जड़ता, व्याधि, उन्माद, मूर्छा तथा मृत्यु।

इसी प्रकार सख्य-रस में भी चतुरशिरोमणि, सत्यसंकल्प, मेधावी, सुन्दर, सुन्दर वेशभूषा वाले, दो भुजाओं वाले श्रीकृष्ण ही विषयालंबन हैं।

१. विभावानुभावसंचारीसंयोगात् रसनिष्पत्तिः। —भरतमुनि

शृङ्गवेत्र आदि उद्दीपन विभाव हैं तथा स्तम्भ आदि आठों सात्त्विक भाव हैं। हर्ष, गर्व आदि संचारीभाव हैं। सख्यरति स्थाई भाव है। दशदशा पूर्ववत् अर्थात् ताप, कृशता आदि।

वात्सल्य-रस में तो कोमलाङ्गी, श्रवणमधुर भाषण करने वाले, समस्त शुभलक्षणों से युक्त बालक श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं। नन्द, उपनंद, यशोदा, रोहिणी आदि आश्रयालम्बन हैं। मुस्कराना, बातें करना, चपलता तथा बालसुलभ चेष्टायें आदि उद्दीपन विभाव हैं। अङ्गों का उबटन आशीर्वाद, आदेश, लालन-पालन आदि अनुभाव हैं। पूर्वोक्त आठों ही सात्त्विक भाव हैं लेकिन स्तन-स्राव होना एक विशेष है। हर्ष शङ्का आदि व्यभिचारी भाव हैं। वात्सल्य स्थायी भाव है। पूर्वोक्त वियोग की दशों दशाएँ हैं।

शुक्लरस में सर्वमाधुर्ययुक्त कमनीय किशोरमूर्ति श्रीकृष्ण ही विषयालम्बन हैं तथा कृष्णप्रिया ही आश्रयालम्बन हैं। गुण, वंशी-रव, वसन्त कोकिलादि उद्दीपन विभाव हैं, कटाक्ष, मोक्ष, स्मित आदि अनुभाव हैं और सभी आठों सात्त्विक भाव हैं। आलस्य, उद्विग्नता, निर्वेद आदि व्यभिचारी भाव हैं। हास्य आदि रसों का उज्ज्वल रस में ही अन्तर्भाव होने से केवल पाँच ही रस हैं।

५—श्रीकृष्ण की प्राप्ति के विरोधी प्रतिबन्धक के स्वरूप को बतलाते हैं—भक्तों का अपराध करना और विषयों में आसक्ति रखना, उचित का परित्याग तथा अनुचित का ग्रहण करना तथा एकादशी आदि व्रतों का पालन न करना। प्रपन्नत्वादि जीवका स्वाभाविक धर्म है, ऐसा कहा गया है। प्रपत्ति से तात्पर्य शरणागति से है और वह शरणागति[1] छह प्रकार की है—

[1]. आत्मशान्ति तथा भगवत् प्राप्ति के लिए प्रपत्ति से बढ़कर कोई दूसरा साधन नहीं है। वस्तुतः जैसी शान्ति, आत्मसुख तथा निश्चिन्तता प्रपत्ति से प्राप्त होती है, वैसी शान्ति, आत्मसुख और निश्चिन्तता अन्य किसी साधन से सम्भव नहीं प्रपन्नों की सारी जिम्मेवारी भगवान् की होती है जो निश्छल भाव से भगवान्

के प्रपन्न होते हैं भगवान् उनका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले लेते हैं। उनके सम्पूर्ण योगक्षेम की चिन्ता भगवान् करते हैं—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—गी० अ० ९, श्लोक २२

शरणागति सम्बन्धी इन अङ्गों का विशद शास्त्रीय विवेचन रहस्य मीमांसा, प्रपन्नसुरतरुमंजरी, मंत्ररहस्यषोडशी तथा वेदान्तरत्नमंजूषा में किया गया है। निम्बार्काचार्य का तो प्रपत्ति विचार में एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही था जिसकी चर्चा वेदान्तरत्नमंजूषा आदि ग्रन्थों में है। खेद है कि वह अमूल्य ग्रन्थ-रत्न अद्यावधि उपलब्ध नहीं हो सका।

आ० केशवकाश्मीरी भट्टकृत गीता की 'तत्त्वप्रकाशिका' टीका के अन्तर्गत १८वें अध्याय के श्लोक ७३ की टीका में शरणागति का वर्णन तथा अर्थपंचक का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

"अत्र मामेकं शरणं व्रजेति शरणागतावेव शास्त्र (स्य) समापनात्" शिष्यस्तेऽहं साधि मां त्वां प्रपन्नमि ' त्युपक्रमेऽपि प्रपन्नशब्देन शरणागतस्यैवोपदेश्यत्वज्ञापनात् "निवासः शरणं सुहृदि" ति मध्येऽपि उपास्यस्य सर्वशरणत्वाभिधानाच्छरणागतिपरमेवेदं गीताशास्त्रमित्यवगम्यते। सा च षड्विधा "आनुकूलस्य संकल्प, प्रातिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेप्यकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिरिति" नारदपंचरात्रवचनात्। तत्रानुकूल्यादिपंचाङ्गानि आत्मनिक्षेपोऽङ्गी तथा च "सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थित" इत्यादिनाऽऽनुकूल्यसंकल्पाख्यः प्रथमोऽङ्गो दर्शित, । हेयतया आसुरीसम्पत्प्रतिपादनमन्यत्रापि निर्वैरत्वादिप्रतिपादनं प्रातिकूल्यवर्जनाख्यो द्वितीयऽङ्गो दर्शितः।

"योगक्षेमं वहाम्यहमि" ति विश्वासाख्यः तृतीयोऽङ्गो दर्शितः। "पितासि लोकस्य चराचरस्य" इत्यादिना "प्रसीद देवेश ! जगन्निवास" इत्यन्तेन गोप्तृत्ववरणाख्यश्चतुर्थोऽङ्गो दर्शितः। "दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ! नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिमि' ति कार्पण्यरूपः पंचमोऽङ्गो दर्शितः। आत्मात्मीयस्य सर्वस्य विधिश्रद्धया भगवत्यर्पणमात्मनिक्षेपः, स च "तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये, मामेकं शरणं व्रजे" ति षष्ठोऽङ्गो दर्शितः।

अवशिष्टो ज्ञानकर्मभक्तिप्रतिपादको ग्रन्थः प्रपत्तृप्रपदनप्रपत्तव्यस्वरूप-गुणाङ्गैश्वर्यप्रतिपादनेन तत्रैव परम्परया सम्बध्यते इति विवेकः। अथवोपास्य-स्वरूपमुपासकस्वरूपं तदुपासनस्वरूपं तदुपासनफलं तद्विरोधिस्वरूपमित्यर्थपंचकं निरूपितम्। तत्र सप्तमाध्यायादिषु तत्र तत्र सर्वज्ञसर्वकारण सर्वनियन्तृभक्त-वात्सल्यादिगुणार्णवं भगवत्तत्त्वं उपास्यस्वरूपमुक्तम्।१।

तत्प्राप्तृया तत्र तत्र जीवक्षेत्रज्ञाक्षरपुरुषादिशब्दवाच्यं ज्ञानं- ज्ञातृ-प्रतिशरीरभिन्नमसंख्यकं भगवदधीनं बन्धमोक्षार्हं नित्यमित्युपासकस्य स्वरूपं निर्णीतम्।२। तत्प्राप्तिसाधनं कर्मज्ञानभक्तिप्रपत्तिगुर्वाज्ञानुवृत्तिभेदात् पंचविधं यदुपासनं तत्र तत्र निर्दिष्टम्।३। निःशेषाविद्यानिवृत्त्या परमानन्दस्वरूपतत्सा-धर्म्यभगवद्भावादिशब्दाभिधेयं मोक्षाख्यं तदुपासनजं तत्कृपाफलम्।४। एतच्चतुष्टयस्य प्रतिबन्धकं कामक्रोधरागद्वेषादिकमासुरीसम्पच्च विरोधिस्वरूपं इत्यर्थपंचकमेव गीतायां श्रीभगवतोपदिष्टमिति बोध्यम्।५। तदुक्तं भगवता आद्याचार्येण श्रीनिम्बादित्येन "उपास्यरूपं तदुपासकस्य च कृपाफलं भक्तिरसस्ततः परम्। विरोधिनो रूपमथैतदाप्तेर्ज्ञेया इमेऽर्था अपि पंच साधुभि रिति।

मूलतः, "श्रीसर्वेश्वर", श्रीगीता विशेषाङ्क,
सर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन, वि. सं. २०३८, पृ० २०५-२०७

"आनुकूलस्य[१] संकल्पः प्रातिकूलस्य वर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः।
—सनत्कुमार की उक्ति

---

१. शरणागति के छह अङ्ग होते है—

१. **आनुकूलस्य संकल्प**—प्राणीमात्र में भगवान् हैं, अतः प्राणिमात्र के अनुकूल चलना, किसी को किसी प्रकार का दुःख न देना, किसी की निन्दा न करना किसी को अप्रियवाणी न कहना प्रपन्न का प्रथम कर्त्तव्य है अथवा प्रपन्नसुरतरुमंजरी के पृ० २८ के अनुसार भगवान् की शास्त्राज्ञा के अनुकूल चलना तथा अपने-अपने वर्ण एवं आश्रम के अनुसार सन्ध्या तर्पण नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान भगवान की आज्ञा समझकर करना भगवत् शरणागत का प्रथम कर्त्तव्य है।

२. **प्रातिकूलस्य वर्जनम्**—प्राणियों को दुःखी करना, किसी की निन्दा करना आदि भगवदाज्ञा के प्रतिकूल आचरण है। इसका सर्वदा परित्याग कर देना ही 'प्रातिकूलस्य वर्जनम्' शरणागति का द्वितीय अङ्ग है।

३. **रक्षिष्यतीति विश्वासो**—साधक को सदा विश्वास रखना चाहिये कि प्रभु मेरी रक्षा अवश्य करेंगे। जैसाकि गीता में भी भगवान् कृष्ण ने कहा है—

कौन्तेय ! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।
गीता० अ० ९, श्लोक ३१

तथा

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात् तरिष्यसि।
गी० अ० १८, श्लोक ५८

४. **गोप्तृत्ववरणं**—किसी प्रकार की मुसीबत या संकट आने पर प्रपन्न को भगवान् से ही प्रार्थना करनी चाहिए। यह शरणागति का चौथा अङ्ग है।

५. **कार्पण्य**—हम कोई भी साधन जप, पूजा, दान आदि करें, उनमें हमारी अभिमान बुद्धि नहीं होनी चाहिए क्योंकि भगवान् तो कृपैकलभ्य हैं, वे साधनों के आधीन नहीं है। वे सर्वतन्त्र हैं। प्रपन्न को अनवरत साधना संलग्न होने पर भी अपने में दैन्य भावना ही रखनी चाहिए तभी प्रभु की कृपा का उदय हो

अन्त में टीका का उपसंहार करते हुए आ० नन्ददास ने एक श्लोक द्वारा निम्बार्काचार्य की संस्तुति की है—

"भवताप[1] प्रहर्त्तारं वाञ्छितार्थप्रवर्षिणम्।
आश्रयं सुविहंगानां निम्बार्कप्रभुमाश्रये॥

अर्थात् संसार के ताप को हरने वाले, मनवाञ्छितार्थ की वर्षा करने वाले, श्रेष्ठ विहंगों (प्राणियों, भक्तों) को आश्रय (शरण) देने वाले निम्बार्क भगवान् का मैं आश्रय (शरण) लेता हूँ।

नन्ददास स्वामी द्वारा विरचित तत्त्वसारप्रकाशिनी सम्पूर्ण हुई। सं० १९४८ में आषाढ़ शुक्ला नवमी बुधवार को श्रीवृन्दावन में यमुना के किनारे श्री रघुनाथदास ने इस टीका की प्राचीन प्रति से प्रतिलिपि की। श्रीकृष्ण को अर्पण है। श्रीरस्तु शुभम्।

---

१. तत्त्वसारप्रकाशिनी—प० ६ रे०

(पृष्ठ ८९ की शेष टिप्पणी)

सकता है। निम्बार्काचार्य ने भी 'कृपास्य दैन्यादि युजि प्रजायते' श्लोक द्वारा इसी कथन की पुष्टि की है।

६. **आत्मनिक्षेप**—इन सभी अङ्गों का अङ्गी आत्मनिक्षेप, आत्मभरन्यास या आत्म-आत्मीयभरन्यास को माना गया है। इस मुख्य अङ्ग की पूर्ति के लिए ही दीक्षा का विधान है और इस विधान की पूर्ति गुरु की अहैतुकी करुणा द्वारा सम्पन्न होती है।

यहाँ आत्म पद आत्मा तथा आत्मीय का उपलक्षण माना गया है। अर्थात् आत्मा के साथ स्त्री, पुत्र, मन, बुद्धि, अपना सर्वस्व पुण्यापुण्य, क्रियमाण प्रारब्ध कर्म आदि का भगवान् में विन्यास किया जाता है।

निम्बार्कीय साधना में प्रपत्ति को ही सर्वान्तिम साधना मानी गई है और इसी में समस्त साधनों का अन्तर्भाव हो जाता है। अतएव जिसने विधिपूर्वक प्रपत्ति की दीक्षा ले ली या भगवत्प्रपन्न हो गया, वह कृतकृत्य हो जाता है। इसी प्रकार अष्टांगयोग का प्रपत्ति के अङ्गों में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

इस मङ्गलमय प्रपत्ति के द्वारा भगवदनुग्रह का उदय होता है और उससे प्रेमलक्षणा या पराभक्ति की प्राप्ति होती है और तत्पश्चात् भगवत्साक्षात्कार होता है और इस प्रकार भगवद्भावापत्ति मोक्ष की प्राप्ति होती है।

सहायक ग्रन्थों की तालिका

१. आचार्य परम्परा परिचय – पं० किशोरदासजी, प्रकाशक व मुद्रापक – वैष्णव श्रीरामचन्द्र दास, सन् १९३६, वृन्दावन।

२. आचार्य परशुरामदेव व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डा० रामप्रसाद शर्मा, अर्चना प्रकाशन, अजमेर, सन् १९७५।

३ आचार्य केशवकाश्मीरीभट्ट व्यक्तित्व एवं कृतित्व – डा० कमलेश पारीक, अप्रकाशित शोधग्रन्थ।

४. श्रीमद्भगवद्गीता – प्रकाशक-गोविन्द भवन कार्यालय, मुद्रक गीताप्रेस गोरखपुर सं० १९९१।

५. श्रीनिम्बार्कसुधा – (पत्रिका) निम्बार्क मुद्रणालय, जयपुर, वि० सं० २०३९।

६· निम्बार्क सम्प्रदाय और उसके कृष्णभक्त हिन्दी कवि – डा० नारायणदत्त शर्मा, अशोक प्रकाशन मथुरा, प्रथम संस्करण सं० २०२१।

७. श्रीमद्भागवत महापुराण – प्रकाशक मोतीलाल जालान, मुद्रक-गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० १९९७-२०४०।

८. भक्तमाल – प्रकाशक – वियोगी विश्वेश्वर, सर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन, सन् १९६०।

९. भारतीय दर्शन – बलदेव उपाध्याय, मुद्रक – श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस, सन् १९४२।

१० व्रज का इतिहास – भाग १-२, कृष्णदत्त बाजपेयी, प्रकाशक – अ० भा० व्रजसाहित्यमण्डल, मथुरा, प्रथम संस्करण १९५५ ई०, द्वितीय खण्ड १९५८ ई०।

११ श्रीसर्वेश्वर – निम्बार्क अङ्क, सर्वेश्वर प्रेस, वृन्दावन, सन् १९७२।

१२ सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा – डा० आद्याप्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, सन् १९६९।

॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥

॥ भगवन् श्री निम्बार्काचार्याय नमः ॥

महर्षिवर्य श्री सनकादि संसेव्य – श्री सर्वेश्वरप्रभु

श्री निम्बार्क ज्ञान कोश

(श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय के सिद्धान्त , उपासना , साहित्य,इतिहास,समाज को देन एवं साधकों की जिज्ञासा समाधान कोश)

संस्थापना—श्री निम्बार्क जयन्ति वि.स. 2073 तदनुसार 14 नवम्बर 2016

संचालक मण्डल – श्री जयकिशोर शरण जी

श्री हरिदास जी (9997374430)

डा.राधाकान्त वत्स(9268889017)